
0·9
·A

पुस्तकालय

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

विषय संख्या ______ आगत नं० ______

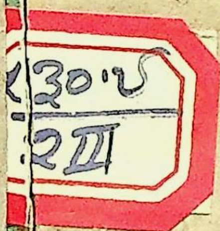
लेखक ______

शीर्षक आयुर्वेद सूत्र

दिनाँक	सदस्य संख्या	दिनाँक	सदस्य संख्या

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३०वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।





ओ३म्

आयुर्वेद सूत्रम् ।

पटियाला राज्यान्तर्गत टकसाल निवासी
वै० पं० रामप्रसादशर्म्मराजवैद्य प्रणीतम्
तथा
स्वकृत प्रमादनी संस्कृत व्याख्यया हिन्दी
भाषयाच संवलितम् ।

पुस्तक मिलने का ठिकाना,
पं० रामप्रसाद शर्म्मा राजवैद्य पटियाला ।

अमृत प्रैस, अमृतधारा भवन लाहौर में
छपवा कर प्रकाशित किया ।

[आवृति २०००] सं० १९७९ वि० । [मूल्य १)

DEDICATION.

To

His Most Gracious Master His Highness Shri 108 Maharajadhiraj BHUPENDRA SINGH MOHINDRA BAHADUR, G. C. S. I., G. C. I. E., G. C. V. O., G. B. E., the illustrious Ruler of Patiala State, whose sympathies for the suffering humanity are superemely genuine, whose solicitude for the health and physical culture of his subjects is as great as that for their intellectual and moral advancement and whose kind patronage of the oriental literature is admired all over the country this publication entitled the "AYURVEDIC SUTRAS" is most humbly dedicated as a token of his homage and gratefulness by his most obedient and loyal servant.

Patiala,
Dated
1st August 1922.

RAM PARSHAD,
Raj Vaidya,
Patiala State.

होकर अपने २ विषयों में प्रवृत्त होना काम कहा जाता है। या स्पर्श विशेष विषयाभिमानी सुखानुविद्ध फल की प्रतीति प्रधानता से काम कही जाती है।

(४) आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति मोक्ष है। या दुःख नाशानन्तर परमसुख की प्राप्ति ही मोक्ष है। जो दयामय ईश्वर की कृपा से कुछ भक्तों को ही प्राप्त हो सकती है। आत्रेय कहते हैं निवृत्ति मोक्ष है। जैसे कहा है :-

सम्पूर्ण जगत् के भावों को अपने में और अपने सम्पूर्ण भावों को जगत् में देखते हुए, परावर दृष्टि से ज्ञानमूलक शान्ति कभी नष्ट नहीं होती। जो शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से सर्वावस्था में सब जीवों को ब्रह्म भाव से देखता है उस ब्रह्म रूप शुद्ध आत्मा का जन्म मरण से संयोग नहीं होता। जब कारण भाव से इसे अपना कोई चिन्ह नहीं प्रतीत होता तब यह सब कारणों के परित्याग से मुक्त कहाता है। इसी शान्ति को पाप रहित, विरज, शान्त, परम, अक्षर, अव्यय, अमृत, ब्रह्म और निर्वाण कहते हैं। इस प्रकार

चतुर्विध पुरुषार्थ साधनोपायभूत, नीरोग दीर्घायु इस आयुर्वेद ज्ञान का प्रयोजन है ॥

धातु क्रिया साम्य इसका प्रयोजन है। आयुर्वेद तत्व को जानने की इच्छा वाला अधिकारी है। इसके तत्व ज्ञान से और इसके अनुसार अनुष्ठान करने से, आरोग्य रूप उपेयाभिमत आयु के परम पुरुषार्थ (मोक्ष) का यह उपाय है। इस उपेयोपाय लक्षण सम्बन्ध वाला हेतु, लिङ्ग औषध ज्ञान ही इसका अभिधेय कहा है ॥ ३ ॥

सू०—प्रत्यक्षानुमानयुक्त्याप्तोपदेशाः प्रमाणानि ॥ ४ ॥

प्र०टी०—प्रमीयतेऽनेनेति प्रमांप्रति करणत्वमवगम्यते। तेन प्रमाकरणं प्रमाणमिति। नार्थप्रतियत्तिः प्रमाणमन्तरेण। न चार्थ प्रतिपत्तिं विना प्रवृत्तिर्भवति। अर्थाऽव्यभिचारि-प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणम्। प्रमाणे चार्थवति प्रमाता प्रमेयं प्रमितिरित्यर्थवन्ति भवन्ति। अन्यथाऽर्थस्यानुपपत्तेः तत्र यस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता। स येनार्थं प्रमिणोति तत्प्रमाणम्। योऽर्थः प्रमीयते तत्प्रमेयम्। यदर्थ विज्ञानं सा प्रमितिः।

द्विविधं खलु सर्वम् । सच्चाऽसच्च । तत्परीक्षणार्थं प्रमाणानि । यथा—प्रत्यक्षं, अनुमानं, युक्तिः, आप्तोपदेशश्च। तत्रात्मेन्द्रियमनोऽर्थ सन्निकर्षजन्यं निश्चयात्मकमव्यभिचारी ज्ञानं प्रत्यक्षम् । प्रत्यक्षपूर्वकं त्रिविधमनुमानं, तत्तु-कार्यात्कारणानुमानं, यथागर्भदर्शनान्मैथुनानुमानम् । एवं कारणात् कार्यानुमानं, यथासहकारिकारणान्तरयुक्ता द्वीजात्फलानुमानम् । एवमेवसामान्यतो दर्शनादनुमानं, यथा धूमाद्वर्तमानलक्षणसम्बन्धादग्न्यनुमानम् अनेन पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो दृष्टमिति त्रिविधमनुमानम्। अनुमीयते येन तदनुमानम् तेन व्याप्तिग्रहणादनन्तरंमीयते सम्यङ् निश्चीयते परोक्षाऽर्थो येन तदनुमानम् ।

युक्तिरेवोपमानम् । प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमेवास्य प्रयोजनम् यथा, जल कर्षण संस्कृतायांभूमौ बीजर्तुसंयोगात् शस्योत्पत्तिर्भवति, तथाषड्धातुसंयोगाद्गर्भस्योत्पत्तिर्भवति । यथामन्थ्यमन्थनसंयोगादाग्निरुत्पद्यते । तथा सम्यक् प्रयुक्तश्चतुष्पादसम्पद्व्याधिनिर्बर्हणी भवति ।

आप्तोपदेशस्तावत् वेदाज्ञा ऋषिवाक्यञ्च। यतो रजस्तमोभ्यां निर्मुक्ता तपोज्ञान बलेन ये तेषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा । आप्ताः शिष्टविबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम् । एवं चतुर्भिः प्रमाणैः पुनर्भवोऽस्तीति विज्ञायते। अतः धर्म्माचरणेन

शरीरयात्रा विधेया ॥ ४ ॥

भा० टी०-जिसके द्वारा "प्रमेय" का यथार्थ ज्ञान हो वह "प्रमाण" कहा जाता है । क्योंकि विना प्रमाण के अर्थ की प्रतिपत्तिः नहीं होती । विना अर्थ प्रतिपत्ति के प्रवृत्ति नहीं हो सकती । इसलिये प्रमाण अर्थवान् है, प्रमाण के अर्थवान् होने से प्रमाता प्रमेय, प्रमिति ये सब अर्थवाले होते हैं। जैसे जो पुरुष विषय जानने में प्रवृत्त होता है उसको "प्रमाता" कहते हैं। वह जिसके द्वारा अपने विषय का निश्चय करता है उस को " प्रमाण " कहते हैं। जिस अर्थ को जानता है वह " प्रमेय " कहा जाता है। उस में जो अर्थ विज्ञान होता है, उसको "प्रमिति" कहते हैं।

संसार में सब कुछ दो भाग में विभक्त है, सत् या असत् उस सत् और असत् की परीक्षा के लिये चार प्रमाण हैं। जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान, युक्तिः (उपमान) और आप्तोपदेश ।

आत्मा, इन्द्रिय, मन, और इन्द्रिय का विषय इन के सन्निकर्ष से जो निश्चयात्मक व्यभिचार रहित ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं ।

प्रत्यक्ष पूर्वक तीन प्रकार का अनुमान होता है, इनमें कार्य्य से कारणानुमान, जैसे गर्भ देखने से मैथुन का अनुमान होता है । ऐसे ही कारण से कार्य्य का अनुमान होता है, जैसे अन्य सर्व सहकारी कारणयुक्त बीज से फल का अनुमान होता है । ऐसे ही सामान्यतो दृष्टानुमान है, जैसे वर्त्तमान लक्षण सम्बन्धि धूम से अग्नि का अनुमान होता है । इस प्रकार पूर्ववत् (अतीत कालिक) शेषवत् (भविष्यत् कालिक) सामान्यतो दृष्ट (वर्त्तमान कालिक) यह तीन प्रकार का अनुमान होता है ।

किसी वस्तु के व्याप्ति वाले अंग को देखने के अनन्तर जिस के द्वारा उस वस्तु का ठीक निश्चय किया जाय उसको "अनुमान" कहते हैं ।

युक्ति उपमान को कहते हैं लोक प्रसिद्ध साधर्म्य से साध्य का साधन करना ही इसका प्रयोजन है । जैसे जलसिक्त और जोती हुई भूमि में बीज और तदनुकूल ऋतु के संयोग से शस्य (खेती) उत्पन्न होती है । वैसे ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, और आत्मा इनके उचित संयोग से गर्भ उत्पन्न हो जाता है । जैसे यज्ञ में अग्नि पैदा करने की दोनों

अग्नि मन्थ की लकड़ियां और मंथन कर्त्ता के संयोग से अग्नि पैदा होती है, उसी प्रकार औषध, रोगी, वैद्य, परिचारक इन चिकित्सा के उत्तम चार पादों के उचित संयोग से रोग दूर होकर आरोग्य प्राप्त होता है।

आप्तोपदेश वेदाज्ञा है तथा ऋषियों के वाक्य हैं। क्योंकि जो महात्मा ज्ञान और तप के बल से रजोगुण और तमोगुण से रहित होगये हैं, जिनका भूत, भविष्यत, वर्त्तमान इन तीनों कालों में निर्मल और कभी नष्ट न होने वाला ज्ञान सदा बना रहे, उनको आप्त, शिष्ट और विबुध कहते हैं। उनके वाक्य निःसन्देह मानने चाहिये॥

इस प्रकार चार प्रमाणों से पुनर्जन्म का होना भी सिद्ध है। इसलिये धर्म्माचरण से ही शरीर यात्रा का निर्वाह करना चाहिये॥ ४॥

सू०—पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायश्च पुरुषः॥ ५॥

अस्मिन् शास्त्रेऽस्मिन्नत्राधिकारे वा पृथ्वी, अप, तेजः, वायु, आकाश इति पञ्चमहाभूतानि, शरीरी आत्मा, एषां

नित्यसम्बन्धी, पुरुष इत्युच्यते । तथा चकारात् पुरि शरीरे शेत इति पुरुषः । यद्यपि धातुक्रियासाम्यार्थं शारीरिकचिकित्सार्थं च केवलं पञ्चमहाभूतशरीरिसमवाय एव पुरुषोऽत्राभिप्रेतः, परं च शास्त्रान्तरव्यवहारानुरोधादाध्यात्मिक रोग निवृत्त्यर्थञ्च केवलचेतनाधातुपुरुषस्यापि ग्रहणम् । पृथिव्यादीनां व्याख्यां विस्तरेण शरीराध्याये करिष्यामः ॥ ५ ॥

भा. टी.–इस शास्त्र में अथवा इस धातु क्रिया साम्याधिकार में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और आत्मा इनके समवाय सम्बन्ध को पुरुष कहते हैं । चकार से शरीर में रहने वाला आत्मा भी पुरुष शब्द से ग्रहण किया है । यद्यपि धातु क्रिया साम्यार्थ और शारीरिक चिकित्सा के लिये केवल पञ्च महाभूत के शरीर और आत्मा के समवाय सम्बन्ध को ही पुरुष नाम से ग्रहण किया है, परन्तु अन्य दर्शन शास्त्रों के व्यवहारानुरोध से और आध्यात्मिक रोग निवृत्ति के लिये केवल चेतना धातुरूप आत्मा का भी पुरुष शब्द से ग्रहण है । पृथ्वी आदि महाभूतों की व्याख्या शारीराध्याय में विस्तार से करेंगे ॥ ५ ॥

सू०–तद्दुःखसंयोगा व्याधयः ॥ ६ ॥

प्र. टी.–तस्य पुरुषस्य दुःखेन संयोगो व्याधय इत्युच्यन्ते ।

तस्य पुरुषस्य दुःखानां वेदनानां ये संयोगास्ते व्याधयो वा उच्यन्ते । अथवा तस्य पुरुषस्य येषु सत्सु यैर्वा करणभूतैः येभ्यो वा दुःखं जायते ते व्याधयः ॥ ६ ॥

भा. टी.–उस पुरुष का दुःख के लिये संयोग होना व्याधियां कहा जाता है। अथवा उस पुरुष को दुःखों, कष्टों, से जो संयोग होते हैं, उन को व्याधियां कहते हैं। अथवा उस पुरुष को जिन संयोगों में दुःख हो, वा जिन हेतुभूतों से दुःख हो या जिन संयोगों से दुःख हो, उनको व्याधियां कहते हैं ॥ ६ ॥

सू०–शारीरागन्तुकमानस स्वभाविकाश्च ॥ ७ ॥

प्र. टी.–ते व्याधयः शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक, स्वाभाविकभेदेन चतुर्धा विज्ञेयाः । चकारेणात्र स्वाभाविक-व्याधेः विशिष्टं प्रतिपादितम् ।

(१) शारीरास्त्वत्राहारविहारमूलाः वातपित्तकफवैषम्य निमित्ताः ।

(२) आगन्तवश्चात्राभिघातनिमित्ताः ।

(३) मानसास्तु रजस्तमनिमित्ताः इच्छा द्वेषभेदैर्भवन्ति ।

क्रोध शोकभयहर्षविषादर्ष्येर्भ्यसूया दैन्य मात्सर्य्य काम लोभ प्रभृतयः।

(४) स्वाभाविकास्तु जरामृत्युक्षुत्पिपासा निद्राप्रकृतयः। जरा वार्धक्यम्, मृत्युः प्राणवियोगः, क्षुत्, पिपासा, निद्रात्र स्वाभाविका ग्राह्या। अत्र प्रकृतिग्रहणेन् दोषवैषम्यनिमित्तकक्षुत् पिपासादिभ्यो भिन्नत्वं प्रतिपादितम् ॥ ७ ॥

भा.टी.–वह रोग शारीरिक, आगन्तुक, मानासिक, और स्वाभाविक इन भेदों से चार प्रकार के जानने चाहिये। सूत्र में चकार स्वाभाविक व्याधि के विशेष रूप को प्रतिपादन करता है ॥

(१) यहां शरीर व्याधियां आहार विहार मूलक वात पित्त और कफ की विषमता से होती हैं ॥

(२) आगन्तव रोग किसी प्रकार के अभिघात से उत्पन्न होते हैं।

(३) मानासिक रोग रजोगुण और तमोगुण से उत्पन्न होते हैं तथा इच्छा द्वेष के भेदों से क्रोध, शोक, भय, हर्ष, विषाद, ईर्ष्या,

अभ्यसूया, दैन्य, मात्सर्य्य, काम, लोभादि नाम से कहे जाते हैं।

(४) स्वाभाविक रोग बुढ़ापा, मरण, क्षुधा, प्यास और निद्रा को कहते हैं, यहां प्रकृति शब्द से स्वाभाविक क्षुधा प्यास निद्रा का ग्रहण है। और दोष वैषम्य निमित्तक क्षुत् पिपासादि को अलग शारीर रोगों में माना है ॥ ७ ॥

सू०—ते मनोऽधिष्ठानाः शरीराऽधिष्ठानाश्च ॥ ८ ॥

प्र. टी.—ते व्याधयो मनोऽधिष्ठानाः शरीराधिष्ठानाश्च। तत्र क्रोधशोकादयो मनोऽधिष्ठानाः ज्वरादयः शरीराधिष्ठानाः। मूर्च्छाऽपस्मारादय उभयाधिष्ठानाः यद्यपि शारीरा व्याधयोपि मनः पीड़यन्ति। एवं मानसा अपि शरीरं पीड़यन्ति। परंच एवं मानसा व्याधयः पूर्वं मनः प्रपीड्य पश्चाच्छरीरम् एवं शारीराः पूर्वं शरीरं प्रपीड्य पश्चान्मनः पीडयन्ति। अतो न व्यभिचारः। आत्मा तु निर्विकारत्वात् व्याध्यधिष्ठानमेव नास्तीत्यत उक्तम् मनः शरीराऽधिष्ठाना इति ॥ ८ ॥

भा. टी-वह रोग मन और शरीर के आश्रित रहते हैं। इन में क्रोध शोकादि मन के आश्रित होते हैं। ज्वर अतिसारादि शरीर के आश्रित होते हैं। तथा मूर्छा अपस्मारादि दोनों के आश्रित होते हैं। यद्यपि शारीर व्याधियां भी मन को पीड़ा करती हैं, और मानसिकव्याधियां भी शरीर को पीड़ा करती है परन्तु मानस रोग पहले मन को पीडन कर पीछे शरीर को पीड़न करते हैं। ऐसे ही शरीर में होने वाले रोग पहले शरीर को पीड़न कर पीछे मनको कष्ट देते हैं। इस लिये इनके अधिष्ठान भेद में कोई दोष नहीं आता। और आत्मा तो निर्विकार होने से रोगों का आश्रय नहीं। इसलिए मन और शरीर ही रोगों के अधिष्ठान है ॥ ८ ॥

सू०—मानसानाञ्च विज्ञानादुपरमः ९

मानसानां मनःसम्भूत विकाराणां निवृत्त्यर्थं यथार्थज्ञानोपदेशः चकारात् धैर्य्यधृत्यादयोपि मानसरोगान् परिहरन्तीति ॥ ९ ॥

भा. टी.—मन में होने वाले रोगों की निवृत्ति के लिये विचारपूर्वक यथार्थ ज्ञान का उपदेश करना

चाहिये । तथा धैर्य्य देना और हित शब्दों से धारणा शक्ति को स्थिर करना आदि भी मानसिक रोगों को दूर करते हैं ॥ ९ ॥

सू०—शारीराणाञ्च धातुक्रिया साम्यमेव ॥ १० ॥

प्र. टी.—शारीरास्तु निजागंतुजभेदेन द्विविधाः । तत्र निजास्त्वन्नपानमूला वातपित्तकफवैषम्यनिमित्ताः । तेषां संशोधन संशमनादीनि सम्यक् प्रयुक्तानि धातुक्रियासाम्यकराणि भवन्ति । धातुक्रियासाम्यमेवारोग्यम् । तथा गन्तुजानां व्याधीनां शल्यतन्त्रोक्तविधिना परिमार्जनं विधेयमिति चकारार्थः ॥ १० ॥

भा. टी.—शरीरिक रोग निज और आगन्तुज भेद से दो प्रकार के होते हैं । उन में अन्नपान के मिथ्या या विषम योग से वात पित्त कफ की विषमता होकर जो शरीर में ज्वरादि रोग होते हैं, वह निज कहे जाते हैं । उन रोगों में विधि पूर्वक शोधन और संशमन आदि का ठीक प्रयोग करना धातुओं और उन की क्रियाओं को साम्यावस्था में करता है । दोष धातुओं और उनकी क्रियाओं का साम्यावस्था में होना ही

आरोग्य है । तथा अभिघात निमित्तक रोगों को शल्य तन्त्र की विधि से निवृत्त करना यह सूत्र में चकार से कह दिया है ॥ १० ॥

सू०—कालार्थकर्मणां हीनमिथ्यातियोगा रोगोत्पादकाः ॥ ११ ॥

प्र. टी.—संकलयति कालयति वा भूतानीति कालः, सूक्ष्मां कलामपि न लीयते वेति कालः । तस्यादित्यगतिविशेषेण निमेषकाष्ठाकलामुहूर्त्ताहोरात्र पक्ष मासर्त्त्वयनसम्वत्सरयुग प्रविभागा भवन्ति । तत्र लघ्वक्षरोच्चारणमात्रोऽक्षिनिमेषः, पञ्चदशाऽक्षि निमेषाः काष्ठा, त्रिंशत्काष्ठा कला, विंशति कलो मुहूर्त्तः, त्रिंशन्मुहूर्त्तमहोरात्रम्, पञ्चदशाहोरात्राणि पक्षः, स च शुक्लःकृष्णश्च, तौ मासः । इह तु भाद्रपदाद्येन द्विमासिकेन वर्षाशरद हेमन्त वसन्त ग्रीष्म प्रावृषो षड्तवो भवन्ति । त एते शीतोष्ण वर्षलक्षणा दोषोपचयप्रकोपशमन निमित्तम् । तत्रचन्द्रादित्ययोः कालभागकरत्वात् द्वे अयने भवतः, दक्षिणमुतरञ्च, तयोर्दक्षिणं वर्षाशरद हेमन्ताः । तेषु सोम आप्यायते, अम्ललवणमधुराश्च रसा वलवन्तो भवन्ति । प्राणिनामुत्तरोत्तरं वलमाभिवर्धते । उत्तरं च

शिशिरवसन्त ग्रीष्माः । तेषु अर्कश्चाप्यायते । तिक्तकषाय कटुकाश्च रसा बलवन्तो भवन्ति । उत्तरोत्तरं च प्राणिनां बलमपि हीयते । द्वे अयने संवत्सरो भवति । ते पञ्च युगमिति । एष निमेषादियुगपर्य्यन्तः चक्रवत् परिवर्त्तमानः कालः । कालचक्रञ्चोच्यते ।

अर्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा महाभूतगुणाः पञ्चज्ञानेन्द्रियाणां विषयाः ।

कर्म्म क्रिया कायवाङ् मनश्चेष्टाः कर्म्मेन्द्रियाणां विषयाः ।

कालश्चार्थश्च कर्म्म च कालार्थकर्म्माणि तेषां हीन मिथ्यातियोगा रोगोत्पादका ज्ञेयाः ।

(१) हीन प्रवृत्ति हीनयोगः ।

(२) अति प्रवृत्तिरतियोगः ।

(३) मिथ्या प्रवृत्ति मिथ्यायोगः ।

पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्चकर्म्मेन्द्रियाणि, एकं मनः एषामेकादशानां हीनामिथ्यातियोगाः कालस्य च सर्वामयोत्पादकाज्ञेया ॥ ११ ॥

भा. टी.–जो पृथिव्यादि महाभूतों को संकलन अर्थात् संगठनादि कर्म में नियुक्त करता है अथवा

प्राणियों का संहरण करता है उसको काल कहते हैं । या जो सूक्ष्मकलामात्र भी लय न हो उसको काल कहते हैं । उस काल के सूर्य्य की गति विशेष से निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त, दिन, रात्री, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, सम्वत्सर और युग यह विभाग होते हैं । उन में लघु अक्षर उच्चारणमात्र काल-का अक्षि निमेष, पंद्रह अक्षिनिमेष का काष्ठा, तीस काष्ठा का कला, बीसकला का मुहूर्त, तीस मुहूर्त का एक दिन रात होता है । पन्द्रह दिन का एक पक्ष, वह पक्ष शुक्ल और कृष्ण भेद से दो प्रकार का होता है। दो पक्ष का एक मास, इस तन्त्र में भाद्रपदादि दो २ महीने के क्रम से वर्षा, शरद्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म और प्रावृट यह छह ऋतुवें होती हैं यह ऋतुवें शरदी, गरमी, और वर्षात् के लक्षणों वाली होती हुई दोषों के उपचय प्रकोप और शमन करने वाली हैं । उन में चन्द्रमा और सूर्य्य के कालविभाग से छह २ महीने के दो अयन होते हैं । एक दक्षिणायन दूसरा उत्तरायण । वर्षा, शरद, हेमन्त, इन ऋतुवों को दक्षिणायन कहते हैं । दक्षिणायन में चन्द्रमा विशेष बलयुक्त होते हैं और

खट्टे, नमकीन तथा मधुर यह तीन रस वलवान् होते हैं। इसलिये प्राणियों के बल की इन ऋतुवों में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, इन तीन ऋतुवों को उत्तरायण कहते हैं इन में सूर्य्य विशेष वलयुक्त होते हैं। और तिक्त कषाय तथा कटु रस वलवान् होते हैं इसलिये क्रम से उत्तरोत्तर प्राणियों के वल की हानी होती है।

दो अयनों का एक सम्वत्सर होता है, पाञ्च सम्वत्सरों का एक युग होता है। यह निमेष से युग पर्य्यन्त चक्रवत् भ्रमण करता हुवा कालचक्र कहा जाता है। शब्द, स्पर्श, रुप, रस, और गन्ध ये पाञ्च महाभूतों के गुण जो पाञ्चों ज्ञानेन्द्रियों के विषय कहे जाते हैं इनको अर्थ कहते हैं। शरीर वाणी और मन की चेष्टारूप क्रिया को कर्म्म कहते है यह कर्म्म पांच कर्म्मेन्द्रियों के विषय हैं। इन काल, अर्थ और कर्म्म के हीन योग, मिथ्यायोग, तथा अतियोग ही रोगों को उत्पन्न करते हैं। (१) हीन प्रवृत्ति को हीनयोग कहते हैं। (२) मिथ्याप्रवृत्ति को मिथ्यायोग कहते हैं (३) अतिप्रवृत्ति को अतियोग कहते हैं। पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्म्मेन्द्रिय

एक मन इन एकादशेन्द्रियों का और काल का हीन, मिथ्या और अतियोग ही सम्पूर्ण रोगों को उत्पन्न करने वाला जानना ॥ ११ ॥

सू०-समयोगश्चारोग्यकरः ॥१२॥

प्र. टी.-तेषां कालार्थकर्म्मणां सम्यक्‌योगः, देश, बल, वय, काल, युक्ति विचारसंयुक्तस्त्वारोग्यकरो दीर्घायुप्रदश्च विज्ञेयः ॥ १२ ॥

भा. टी.-उन काल, अर्थ और कर्म का विधिवत् देश, बल, अवस्था, काल, युक्ति और विचार से युक्त ठीक योग करना ही आरोग्य और दीर्घायु के देने वाला है ॥ १२ ॥

सू०-वायुः पित्तं कफश्चेति दोषाः॥१३॥

प्र.टी.-वायुः पित्त कफ इति संक्षेपतस्त्रय एव शारीरदोषाः यद्यपि साम्यावस्थायां देहधारणाद्धातव एव, परञ्च रसादिदूषणपूर्वकमेषामेव विकारकरणे सामर्थ्यमिति दर्शनार्थं दोषसंज्ञया निर्दिष्टाः। तंत्रान्तरे यद्रक्तस्यापि दोषत्वं दर्शितं तदसारम्। यतः प्राधान्यादन्वर्थनामत्वाच्च वातादीनामेव दोषत्वम् न रसादीनाम्। दूषयन्तीति दोषा इति वातादीनामेवानुगतार्था-

संज्ञा प्रवृत्ताः । रसाद्यास्तु वातादिभिः दूष्यन्ते । अतो रसादयस्सप्तदूष्याः । तंत्रान्तरेऽपि ज्वराधिकारे वातज्वरोऽयं, पित्तज्वरोऽयं, श्लेष्मज्वरोऽयमिति पठितं; नतु रक्तज्वरोऽयमिति निर्दिष्टम् । एवं यथा वातप्रकृतेः पित्तप्रकृतेश्च लक्षणं दृश्यते, न तथा रक्तप्रकृतेः । ये च रक्तजा विकाराः कुष्ठ विसर्पादयस्तेष्वपि घृतदग्धन्यायेन रक्तस्थैर्वातादिभिर्दोषैर्जातो रक्तजोऽयमित्युच्यते । अन्यथा रसादीनां सप्तानामेव दोषत्वं कथं न स्यात् । अतः समासतो वातादयः त्रय एव दोषाः न रक्तम् । विस्तरतस्तु संसर्ग सन्निपातक्षय वृद्धयादि भेदैः कल्प्यमाना वहवो दोषाः सम्भवन्ति ॥ १३ ॥

वायु पित्त और कफ ये संक्षेप से तीन ही दोष हैं। यद्यपि साम्यावस्था में ये दोष नहीं होते, देहधारण करने वाले होने से धातु संज्ञा वाले होते हैं। परन्तु रसादि सात धातुओं को दूषित कर विकार उत्पन्न करने की सामर्थ्य वाले यही हैं। यह दिखाने के लिये वातादि तीनों की ही दोष संज्ञा है।

यद्यपि किसी २ ग्रन्थकार ने रक्त को भी चौथा दोष माना है परन्तु यह निस्सार है। क्योंकि प्रधानता से दूषणकर्त्ता धर्म्म को इन मे ही सार्थकता होने से वातादी तीनों में ही दोषत्व है, रसादि

धातुओं में नहीं । दूषण करने वाले होने से ही ये दोष कहे जाते हैं । यह वातादिकों में ही अनुगतार्थ संज्ञा प्रवृत्त है । रसादिक तो वातादिक से दूषित होते हैं, इसलिये रसादि सातों दूष्य कहे जाते हैं । और ग्रन्थों में भी जैसे यह वातज्वर है, यह पित्तज्वर है, यह कफज्वर है, यही कहा गया है। यह रक्तज्वर है यह कहीं नहीं कहा है । ऐसे ही जैसे वातप्रकृति, पित्तप्रकृति के लक्षण कहे हैं वैसे कहीं रक्तप्रकृति के लक्षण नहीं कहे । जो भी कहीं कुष्ट विसर्पादि रक्तजनित विकार कहे हैं । उन में भी वातादिकों से दूषित रक्त से ही वह रोग होता है या यों कहिये कि रक्तस्थ वातादिकों की विकृति से ही वह रक्तज विमारी उत्पन्न हुई ऐसा सिद्ध होता है । अन्यथा रसादि सात धातुओं को भी दोष क्यों न माना जाय । यह सब ही दूषित होकर विकारकारक हो जाते हैं । इस कारण संक्षेप से वातादि तीन ही दोष हैं रक्त नहीं । और विस्तार से तो संसर्ग, सन्निपात, क्षय, वृद्धि आदि भेदों से कल्पना किये जाकर वहुत से दोष हो सकते हैं ॥ १३ ॥

सू०-रसासृङ् मांस मेदोऽस्थिमज्जा शुक्राणि धातवो दूष्याश्च ॥१४॥

प्र. टी.–अत्र रसो रक्तं मांसं मेदो अस्थि मज्जा शुक्रं एते सप्त धातवः। देहधारणाद्धातवः। वातादिभिरेते दूष्यन्तेऽत एव दूष्याः। एषामुत्पत्तिक्रमः आहारस्य सारो रसः, "रसाद्रक्तं, ततो मांसं, मांसान्मेदः प्रजायते। मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जायाः शुक्रसम्भवः"। एते सर्वे पित्ततेजसा पाचिताः सप्त धातवो जायन्ते। त एव दोषैर्दूषिताः दूष्या इति संज्ञां लभन्ते। एते सप्त धातवः दूष्या श्चेति ज्ञेयाः॥ १४॥

भा. टी.–शरीर में रस, रक्त, मांस, मेद, हड्डियां, मज्जा और शुक्र ये सात धातुएं कही जाती हैं। देहको धारण करने से ये धातुएं कहीं जाती हैं, और येही सात धातुएं, वातादि तीन दोषों से दूषित होने के कारण दूष्य भी कही जाती हैं। अर्थात् इनको धातु और दूष्य कहते हैं॥

आहार का शुद्ध सारभूत द्रव-रस होता है। उस रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थियां, अस्थियों से मज्जा, मज्जा से शुक्र ये

क्रम से पित्त के तेज से परिपाक होकर और शुद्ध वात से विभक्त या परिणत होकर कफ से स्नेह भाव को प्राप्त होते हुवे सात धातु बनते हैं वेही दोषों से दूषित होने पर दूष्य कहे जाते हैं। इसलिये इन सातों को धातु भी कहते हैं और दूष्य भी कहते है ॥ १४ ॥

सू०--मूत्र शकृत् स्वेदादयश्च मलाः ॥ १५ ॥

ग्र. टी.—मूत्र शकृत् स्वेदकर्णमल दन्तमलजिह्वामलादयो मला विज्ञयाः । चकारात् दूष्या अपि । न केवलं रसादयो धातव एव दूष्याः किन्तु यावन्मलाः तेऽपि धात्वादिभिर्दूष्यन्ते इति । यथारसादिधातूनां धातु संज्ञा, दूष्य संज्ञाच तथा मूत्रादीनां मल संज्ञा दूष्य संज्ञा चेति ॥ १५ ॥

भा.टी.—मूत्र, विष्ठा, पसीना, कान, दान्त, जिव्हा, आदि की मैल, मल हैं। चकार से यह दूष्य भी हैं। केवल रसादि धातुएं ही दूष्य नहीं किन्तु जितने मल हैं वे भी धात्वादिकों से दूषित होते हैं। जिस प्रकार रसादि धातुओं की धातु संज्ञा और दूष्य संज्ञा है

उसी प्रकार मूत्रादिकों की भी मल संज्ञा और दूष्य संज्ञा है ॥ १५ ॥

———

सू०-वृद्धाः क्षीणाश्च व्याधिकराः॥१६॥

प्र. टी.—दोषाः--वातपित्तकफाः-धातवः,रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जा शुक्राणि,मलाः—मूत्रादयः, स्वसाम्याऽवस्थात्तो वृद्धाः वृद्धिंगताः, क्षीणा न्यूनतां गता व्याधिकरा ज्ञेयाः । वृद्धिः पुनरेषां स्वयोनिवर्द्धनाभ्युपसेवनाद्भवति । क्षयस्तु अति संशोधनातिसंशमनवेगविधारणासात्म्यान्नमनस्तापव्यायामोन--शनातिमैथुनादिभिर्भवति । प्रवृद्धाः स्वंस्वं लिङ्गविशेषं दर्शयन्ति । क्षीणास्तु स्वलिङ्गं विजहति । तत्र वृद्धाः संशोधनसंशमनैः ह्रासयितव्याः । क्षीणाश्चस्वयोनिवर्द्धनोपयोगैः वर्द्धयितव्याः । समास्तु रक्षणीया इति च शद्वाद्बोध्यम् ॥१६॥

श्रीपटियाला राज्याश्रित टकसालीय रामप्रसाद शर्मा वैद्योपाध्याय प्रणीतायुर्वेदसूत्रे प्रसादिनी टीकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

———

भा० टी.—वात, पित्त, कफ ये दोष-रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, ये धातु, और विष्ठा मूत्रादि मल अपनी साम्यावस्था से बढ़े हुवे या क्षीण हुवे व्याधि के करने वाले होते हैं। अपने समान गुण स्वभाव

वाले आहार विहारादिकों से इन की वृद्धि होती है। और अत्यन्त संशोधन, संशमन, मलमूत्रादि वेगों का रोकना, असात्म्य सेवन, मनःसन्ताप, अतिव्यायाम, अनशन, और अति मैथुनादि से ये क्षीण होते हैं। बढ़ने पर यह अपने २ विशेष लक्षणों को दिखाते हैं। और क्षीण होने पर अपने लक्षणों को त्याग देते हैं।

इन में जो क्षीण हों उनको, उनको बढ़ाने वाले द्रव्यों के उपयोग से बढ़ाना और जो बढे हुवे हों उनको संशोधन संशामनादिकों से ह्रास करना, चाहिये तथा जो साम्यावस्था में हों, उनकी समता रखना चाहिये। यह अर्थ सूत्र में पढें चकार से जान लेना चाहिए॥ १६ ॥

श्रीपटियाला राज्याश्रित टकसालीय रामप्रसाद शर्म्मा वैद्योपाध्याय प्रणीतायुर्वेद तन्त्रे भाषा टीकायां प्रथमोऽध्याय ॥ १ ॥



द्वितीयोऽध्यायः

सू०—रुक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलो वायुः ॥ १ ॥

प्र० टी०—वा गतिगन्धनयो धातो रसृग्दरादिभ्यः इत्यादि सूत्रोत्पन्ने त प्रत्यये वात इति रुपंभवति । वातीति वायुः। सच रजोगुणमयः रुक्षो, लघुः, शीतः, खरः, सूक्ष्माश्चलश्चेति षड़िमे वात गुणा भवन्ति । यद्यपि अनुष्णाशीतो वायु इति कणभक्षाक्ष चरणादिभिः पठितं, इह योगवहानुज्ञानादनुष्णाशीत एव । यथा "दाहकृत् पित्तसं युक्तः शीतकृच्छ्लेष्म संश्रयात्"। परं च तस्य योगवाहित्वेपि पित्तेन सह तावन्मात्र दाहोदयात् स्वाभाविकं शैत्यं न विनश्यति । तथा चोष्णोपायैश्चोपशाम्यतीति प्रतिपत्त्यर्थं शीतगुणवर्णने प्रयोजनम् ।

सच द्विविधः, आभ्यन्तरो वाह्यश्च । तत्राभ्यन्तरो यन्त्र तन्त्रधरःप्रस्पन्दनोद्वहन पूरणविवेकधारणलक्षणो वायुः प्राणोदानसमान व्यानापानात्मा, "प्राणो वायुर्वसंति हृदयेऽपान संज्ञो गुदे वै नाभेश्चक्रं भ्रमति परितो जीवभूतः समानः । कण्ठस्थाने चलति पवनो योह्यिरात्रावुदानः सर्वाङ्गेषु प्रसरति

मरुदो व्यान संज्ञो नितान्तम् ” । प्राणो नाम वायुः अन्नमन्तः प्रवेशयति प्राणाँश्चावलम्बते । उदानेन भाषितगीतादिविशेषोऽभिवर्त्तते । समानस्तु आम पक्वाशयचरो वह्निसंयोगादन्नं पाचयति तज्जाँश्च विशेषान् विविनक्ति। अपानस्तु शकृन्मूत्र शुक्रगभार्तवादीन्यधः क्षिपति समये । व्यानो वायुः कृत्स्नदेहचरो रसासंवहनोद्यतः स्वेदासृक्स्रावणः प्रसारणाकुञ्चन विनमनोन्नमन तिर्य्यग्गमनानि करोति । प्रवर्त्तकश्चेष्टाना मुच्चावचानां नियन्ता प्रणेताच मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योतकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, सर्व शरीरधातु व्यूहकरः, शरीरस्य सन्धानकरः, प्रवर्तको वाचः, स्पर्शशब्दयोः प्रकृतिः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलम्, हर्षोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽग्नेः, दोष संशोषणः, क्षेप्ता वहिर्मलानाम्, स्थूलाणु स्रोतसां भेत्ता, गर्भाऽऽकृतीनां कर्ता, अनुवृति प्रत्ययभूत आयुषः, शरीरे सर्वकार्य्य साधक प्रकृतिस्थः ॥

वाह्यस्यच वायोः प्रकृतिभूतस्य लोके चरतः इमानि कर्म्माणिभवन्ति । यथा धरणी धारणम्, ज्वलनो ज्वालनम्, आदित्यचंद्रनक्षत्रग्रहगणानां सन्तानगतिविधानम्, सृष्टिश्चमेघानाम्, अपांविसर्गः, स्रोतसां संप्रवर्तनम्, पुष्प फलानाञ्चाभिनिर्वर्तनम्, उद्भिज्जानां मुद्भेदनम्, ऋतूनां प्रविभाजनः, धातूनांच प्रविभागमान संस्थान

व्यक्तिः, बीजाभिसंस्कारः, शस्यादि वर्द्धनम्, प्रजापालनम्, विकासनमवैकारिकाणा मन्येषां च भावानाम् ॥ १ ॥

भा० टी.-वा गति गन्धनयो इस धातु से असृग्दणादिभ्य इस सूत्र द्वारा त प्रत्यय होने पर वात यह रूप सिद्ध हुवा। स्वभाव से ही गमन करने वाला होने से इस को वायु कहते हैं। वह वायु रजो गुणमय है, तथा रुक्ष, लघु, शीत, खर, सूक्ष्म, और चल यह छै वायु के गुण हैं। यद्यपि गौतमादिकों ने वायु को अनुष्णाशीत अर्थात् न शीत न ऊष्ण माना है, और हमारे शास्त्र में भी योगवाही प्रतीत होने से शीत ही कहा गया है। जैसे वायु पित्त के संयोग से दाह करने वाला और कफ के संयोग से शीत करने वाला होता है। परन्तु उसके योगवाही होते हुवे भी कुपित पित्त के संयोग से उतनी ही देर मात्र दाह होने से वायु की स्वभाविक शीतता नष्ट नहीं होती। तथा उष्ण उपायों से वायु शमन होता है। इसलिये भी वायु का शीतगुण वर्णन किया है॥

वह वायु दो प्रकार का है, एक आभ्यन्तर और दूसरा वाह्य। उन में आभ्यन्तर वायु शरीर और उस के सब अंग प्रत्यंग को धारण करने वाला, प्रस्पन्दन

उद्वहन पूरण, विवेचन, और धारण इन लक्षणों वाला है । तथा प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान यह पञ्चात्मक संज्ञा को धारण करता है । उन में प्राणवायु हृदय में रहता है । अपान मलाशय में रहता है । और समान नाभिचक्र के चारों ओर भ्रमण करता है । उदान कण्ठ स्थान में हर समय गमन करता है । और व्यान सम्पूर्ण देह में व्यापक रहता है ।

इन में प्राण नामक वायु—भुक्तान्नपान को भीतर लेजाता है । और प्राणों की रक्षा करता है । उदान वायु—वाणी और गीतादिकों का प्रवर्त्तक है । समान वायु—आमाशय और पक्वाशय में गमन करता हुवा जठराग्नि के संयोग से अन्न को पचाता है तथा उस से उत्पन्न हुवे रसादि धातुवों की विवेचना करता है अपान वायु मलमूत्र शुक्र गर्भ और मासिक ऋतु आदिकों को उनके समय पर बाहर निकालता है । व्यान वायु सम्पूर्ण देह में गमन करता हुवा रस को वहन करता है, स्वेद और रक्त स्रावण करने वाला है, तथा प्रसारण, आकुञ्चन, विनमन, उन्नमन, और तिर्य्यग्गमन का करता है ॥

वह शुद्ध वायु सम्पूर्ण शरीर की ऊंची नीची चेष्टाओं का प्रवर्त्तक, मन का नियन्ता और उसका प्रणेता, सब इन्द्रियों का उद्योतक, सब इन्द्रियों के शब्दस्पर्शादि विषयों का वहन करने वाला, सम्पूर्ण शरीर की धातुवों के व्यूह को रचने वाला, शरीर के सन्धान करने वाला, वाणी का प्रवर्त्तक, स्पर्श और शब्द की प्रकृति श्रोत्र और स्पर्श का मूल, हर्ष और उत्साह का कारण,जठराग्नि को चैतन्य करनेवाला,शरीर के क्लेदादि दोषों का शोषण कर्त्ता, मलों को समय पर बाहर गिराने वाला, सूक्ष्म और स्थूल स्रोतों का भेदन कर्त्ता, गर्भ की आकृतियों को बनाने वाला, आयु का आधार स्वरूप तथा शरीर के सम्पूर्ण कार्य्यों का साधन करता है ॥

बाह्य वायु यदि प्रकृतिस्थ हो तो संसार में गमन करता हुवा इन कर्म्मों को करता है। जैसे पृथ्वी को धारण करना, अग्नि को चैतन्य करना, सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र ग्रहादिकों की उदयास्त गति को विधान करना, मेघों को रचना, जल वर्षाना, स्रोतों को प्रवृत्त करना, पुष्प फलादिकों को प्रगट करना, उद्भिज्ज (इन्द्रगोपगण्डुपदादि) को

प्रगट करना, वसन्तादि ऋतुओं का क्रम से विभाग करना, स्वर्णादि धातुओं का विभाग, भान, संस्थान का प्रकट करना, बीजों के संस्कार, खेती का बढाना, प्रजा का पालन करना तथा सम्पूर्ण विकार रहित भावों का उत्पन्न करना आदि ॥ १७ ॥

सू०—समानैराप्यायनं प्रकोपनश्चास्य ॥ २ ॥

प्र. टी.—वायोरतिबलत्वेनाशुकारित्वेन च गरीयस्त्वात्पूर्वं वात प्रकोप कारणानि व्याख्यास्यामः । तस्य वायोः समान गुण प्रभावैर्द्रव्यैः कर्मभिश्चाभ्यस्यमानैः आप्यायनं वृद्धिः, प्रकोपनञ्च । व्याधिपद सामानाधिकरण्याद्विकृतो दुःख कारीवातो, वातव्याधि रूप एव । अत्र वात प्रकोपनानि रूक्ष, लघु, शीत, खर, दारुण, विशद, शुषिर, कराणि तथा विधेषु शरीरेषु वायुराश्रयं प्राप्याऽऽप्यायमानः प्रकोपमापद्यते । एवमेव वयोऽहोरात्रिभुक्तांते प्रावृट् कालेच स्वाभाविकं प्रकोपनम्भवति । यथाह त्रिजटाचार्यः, व्यायामादपतर्पणात्प्रपतनाद्भङ्गात्क्षयाज्जागरात्, वेगानाञ्चविधारणादतिशुचः शैत्यादति त्रासतः । रूक्ष क्षोभ कषाय त्तिक्त कटुकैरेभिः

प्रकोपंव्रजेद्वायुर्वारिधरागमे परिणतेचान्ने पराण्हेऽपिच । इत्यादीनि कारणानि वात व्याधिकराणीति । अनेनैवच सर्व वातव्याधीनां निदान कल्पना ज्ञानं च संभवति । वाह्य वातस्यचाऽधर्मेण प्रकोपनम्भवति ॥ २ ॥

भा. टी.–वायु शीघ्रकारी और अतिबलवान् होने से सब दोषों में बड़ा है । इस लिये पहिले वायु के प्रकोपन द्रव्यों का कथन करते हैं ।

समान गुण प्रभाव वाले द्रव्यों और कर्मों के अभ्यास से वायु की वृद्धि और कोप होता है । व्याधि पद समानाधिकरणता से विकृत वात अर्थात् दुःख कारी वात ही वातव्याधि जानना । अब वायु के प्रकोप करने वाले कारणों को कहते हैं । जैसे रूखे, हलके, शीतल, खर, कठोर, विशद और सुखाने वाले आहार विहार करने से वातप्रधान शरीरों में वायु आश्रय पाकर बढता हुवा प्रकोप को प्राप्त होता है । ऐसे ही वृद्धावस्था में, दिन के अंत में, रात्रि के अंत में, भोजन के पच जाने पर, प्रावृट् ऋतु में वायु का स्वाभाविक कोप होता है । जैसे त्रिजटा चार्य ने कहा है । कसरत करने से, अपतर्पण से, गिरने से, चोट लगने से, क्षय से, अधिक जागने से, मल

मूत्रादि वेगों को रोकने से, अति चिंता करने से, ठंड लगने से, या ठंडे पदार्थों के अधिक सेवन से, त्रास से, क्षोभ से, रूक्ष, कषाय, तिक्त, कटु, पदार्थों के सेवन से आषाढ़ श्रावण में, अन्न परिपाक के अनन्तर और सायंकाल में वायु का प्रकोप होता है। इत्यादि कारण वायु की व्याधि करने वाले होते हैं। इस से सब प्रकार की वात व्याधियों के निदान कल्पना किये जा सकते हैं ॥

और बाह्यवायु का प्रकोप मनुष्यों के अधर्माऽऽचरण से होता है ॥ २ ॥

सू०—प्रपीडयति च शरीरम् ॥ ३ ॥

प्र. टी.—स वायुः आप्यायनं प्रकोपनञ्चासाद्य शरीरं देशञ्च प्रपीडयति । तत्राभ्यन्तरस्तु प्रकुपितः नाना विधैर्विकारैः शरीरं पीडयति, बलवर्णसुखायुषामुपघातयति, सर्वेन्द्रियाणि सर्वेन्द्रियार्थांश्चोपघातयति, पर्वणां संकोचः, अस्थ्नांभङ्गः, रोमहर्षः, प्रलापः, पाणिपृष्ठशिरोग्रहः, एकाङ्गग्रहः, सर्वाङ्गग्रहः, खाञ्ज्यं, पाङ्गुल्यं, कुब्जत्वं, च करोति । शोषोङ्गानांञ्चकरोति तथा गर्भशुक्ररजोनाशंञ्चकरोति

विकृतिमापादयति, भयशोक मोह दैन्यादीन् जनयति एवं हेत्वादिभिः स्थान संस्थान विशेषैश्च नानाविधान् रोगाँश्चोत्पादयति । यथा "आध्मानस्तम्भरौक्ष्यस्फुटनविमथनक्षोभकम्पप्रतोदाः । कण्ठध्वंसाऽवसादौ श्रमक विलपनं स्रंसशूल प्रभेदाः । पारुष्यं कर्णनादो विषयपरिणति भ्रंश दृष्टिप्रमोहाः । विस्पन्दोद्धट्टनानि ग्लपन मशयनं ताडनं, पीडनंच । नामोन्नामौ विषादो भ्रमपरितपनं जृम्भणं रोमहर्षो विक्षेपाक्षेप शोषग्रहण शुषिरताच्छेदनं वेष्टनंच । वर्णः श्यावोऽरुणावा तृडपिच महतीस्वापविश्लेषसङ्गो, विद्यात्कर्माण्यमूनि प्रकुपित मरुतः स्यात्कषायो रसश्च" अत्र प्राणः प्रकुपितः हिक्का, प्रतिश्याय, कास, श्वास, स्वरभेदादिकान् गदान् करोति । उदानः प्रकुपितः ऊर्द्धजत्रुगातान् मन्यास्तम्भादींश्च करोति । समानः प्रकुपितः गुल्माग्निसादातिसारप्रभृत्तीन् जनयति । व्यानस्तु सर्वदेहगान् व्याधीन् जनयति । अपानस्तु वस्ति मेहन गुदाश्रितान् कृच्छ्राश्मरीभगन्दरार्शादींश्च करोति । व्यानापानौ प्रकुपितौ शुक्ररोगान् प्रमेहाँश्च कुरुतः ।

आमाशये प्रकुपितः छर्दि पार्श्वोदर हृत्स्तम्भ तोदादिकान् पिपासा मोह मूर्छादिकांश्च करोति । पक्वाशये प्रकुपितः अन्त्रकूजन शूल नाभौवेदना त्रिक्वेदना मूत्र पुरीष विकृत्यादीश्चँ करोति । श्रोत्रादिषु क्रुद्धः इन्द्रियवधम् । त्वचि

प्रकुपितः वैवर्ण्य,स्फुरणं, रौक्ष्यं,सुप्तिं, तोदं, त्वगभेदञ्च। रक्तगः प्रकुपितो व्रणान् रक्तविकारांश्च। शिरागतः शिराकुञ्चनपूरणादीनि। स्नायुगतः प्रकुपितः स्तम्भ कम्पौ, शूलमाक्षेपणञ्च। एवं यत्र प्रकुपितो गच्छति वायुः तत्र स्तम्भनाक्षेपणस्वाप शूलादीनिभवन्तीति। "दाह सन्ताप मूर्छास्युर्वायौ पित्त समन्विते शैत्य शोफ गुरुत्वांनि तास्मिन्नेव कफावृते" एवं हेतु स्थानादि सम्यग्विचार्य वातव्याधेर्नामादि कल्पनीयमिति वातव्याधेर्निदानोपदेशः॥

बाह्यस्तु प्रकुपित्तो वातः सागराणामुत्पीडनम्, सरसामुद्वर्तनम्, भूमेराकम्पनम्, अम्बुदाना माधमनम्, ऋतूनाञ्चव्यापादनम, जनपदोध्वंसनम्, युगान्तकराणां मेघ सूर्यानिलानाञ्च विसर्ग करोति॥ ३॥

भा. टी.—वह वायु वृद्धि और प्रकोप को प्राप्त होकर देश को और शरीर को पीडन करता है। उनमें शरीरस्थ वायु प्रकुपित होने पर अनेक प्रकार के विकारों से शरीर को पीडन करता है। बल, वर्ण, सुख और आयु को विगाड़ता है। सब इन्द्रियें और इन्द्रियों के शब्द स्पर्शादि विशयों को नष्ट करता है। जोड़ों का संकोच, अस्थियों का भङ्ग, रोम हर्ष, प्रलाप, हाथों का जकड़ना, पीठ का जकड़ना, शिरोग्रह, एकाङ्गग्रह, सर्वाङ्गग्रह, खंजता, पङ्गुपन, कुवड़ा-

पन, और अङ्गशोष को करता है । गर्भनाश, शुक्र क्षय, रजोनाश करता है। तथा अनेक प्रकार की विकृतिएं कर देता है। भय, शोक, दीनता आदि करता है। इस प्रकार प्रकुपित वायु हेतु आदि और स्थान संस्थान विशेष से अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है। जैसे आध्मान, स्तम्भ, रूक्षता, देहस्फोटन, विमथन, क्षोभ, कम्प, प्रतोद, कण्ठध्वंस, अङ्गसाद, श्रम, विलाप, स्रंसन, शूल, भेद, पारुष्य, कर्णनाद, शब्दादि की विपरीतता, दृष्टिभ्रंश, मोह, विस्पन्दन, उद्धट्टन, ग्लानि, निद्रानाश, ताडन, पीडन, नमन, उन्नमन, विषाद, भ्रम, परिताप, जंम्भाइ, रोमहर्ष, विक्षेप, आक्षेप, शोष, अंगग्रह, शुषिरता, च्छेदन, वेष्टन, श्याववर्ण, अरुण वर्ण, तृषा, अङ्गस्वाप, अङ्ग विश्लेष, विबंध, आदि रोग उत्पन्न करता है और मुख का स्वाद कषाय होता है ॥

इनमे प्राणवायु प्रकुपित हुवा प्रतिश्याय, खांसी, श्वास, स्वरभेदादि रोगों को करता है। उदानवायु प्रकुपित हुवा उर्द्धजत्रुगत मन्यास्तम्भादि रोगों को करता है। समान वायु प्रकुपित हुवा गुल्म, अग्निसाद, अतिसार आदि रोगों को उत्पन्न करता है।

व्यान वायु प्रकुपित हुवा सर्व देहाश्रित ज्वारादि या सर्वाङ्गग्रहादि रोगों को करता है। अपान वायु प्रकुपित हुवा वस्ति मेहन और गुदाश्रित रोग, मूत्रकृच्छ्र, पथरी, भगंदर, अर्शादि रोगों को करता है। व्यान और अपान दोनों मिलकर प्रकुपित होने पर शुक्र रोग और प्रमेहादि रोग करते हैं ॥

यदि वायु आमाशय मे प्रकुपित हो तो छर्दी, पार्श्वशूल, उदरशूल, हृदय का स्तम्भ, तोद, प्यास, मोह, मूर्छादि रोगों को करता है। पक्वाशय में प्रकुपित हो तो अंत्र कूजन, शूल, नाभिपीडा, त्रिकशूल, मूत्र विकृति, मल विकृति आदि रोगों को करता है। श्रोत्रादि इन्द्रिय स्थान में प्रकुपित हुवा इन्द्रिय ज्ञान (शब्दादि) का नाश करता है। त्वचा में प्रकुपित हुवा विवर्णता, स्फुरण, रूक्षता, प्रसुप्ति, तोद, त्वचाका फटना आदि रोग करता है। रक्त में प्रकुपित हुवा वायु, व्रण और रक्त विकारों को करता है। शिरा संज्ञक नाड़ियों मे प्रकुपित हुवा शिराओं का संकोच और पूरण (हवा से फुलाना) आदि रोग करता है। स्नायुगत कुपित वायु स्तम्भ, कम्प, शूल, आक्षेप आदि रोग करता है ॥

जिस स्थान में प्रकुपित वायु जाता है उसी स्थान में स्तम्भ, आक्षेप, प्रसुप्ति, और शूल आदि उत्पन्न हो जाते हैं ॥

यदि वह वायु पित्त से आवृत हो तो सन्ताप, दाह और मूर्छा आदि करता है। यदि कफ से आवृत हो तो शीतता, सूजन और भारीपन आदि करता है ॥

इस प्रकार प्रकोप के हेतु और स्थानादि भली प्रकार विचार कर वात व्याधियों के नामादि कल्पना कर लेने चाहिये। यह संक्षेप से सम्पूर्ण वात व्याधियों के निदान का उपदेश कर दिया है ॥

ऐसे ही संसार गामी वाह्य वायु प्रकुपित होने पर समुद्रों को उत्पीडन करता है, सरों को उद्धूर्तन करता है, भूमि कम्पन, मेघों का प्रधमन, ऋतुओं मे विकृति, देश के नाशक रोग, युगान्त कारक मेघ, सूर्य, और पवन को उत्पन्न करता है ॥ ३ ॥

सू०—विपरीतैश्चास्य प्रशमनम् ।४।

प्र. टी.—अस्य वायो र्विपरीतगुण प्रभाव द्रव्य कर्मभिः प्रशमनम्भवति । यथा स्निग्धगुरूष्ण श्लक्ष्ण मृदुपिच्छलघनं

गुण प्रभावैश्चद्रव्यैः वातं शमयेत् । स्वादु अम्ल लवण रस-युक्तं सुस्निग्धमुष्णञ्च भोजनं, वातहरतैलमर्दनम्, स्नेहबस्तिश्च श्रेयस्करी वातरोगिणां । आम रहित केवल वातरोगे स्नेहाऽभ्यङ्गोपनाहलेपनादीनिवातहराणि कर्माणि कारयेत् तथाच तीक्ष्ण उष्ण स्निग्ध गुणकर्म प्रभावयुक्तैः द्रव्यैः घृत तैलादिकान् साधयित्वा उपाचरेत् वातरोगिणम् यावत् प्रकृतिस्थोभवेदिति । चकरात् सामेकफावृत्तेवा वायो पञ्चकोल-संसिद्धंपानान्नंदेयम् । सामनिराम लक्षणानि । यथा वायुः सामो विबन्धाग्निसाद तन्द्रांत्र कूजनैः । वेदनाशोथनिस्तोदैः क्रमशोऽङ्गानिपीडयेत् । विचरेद्युगपच्चापि गृण्हाति कुपिता-भृशम् । स्नेहाद्यैर्वृद्धिमाप्नोति सूर्यमेघोदयेनिशि ॥

निरामो विशदो रूक्षो निर्विबन्धोऽल्पवेदनः विपरीतगुणैः शान्तिस्निग्धैर्याति विशेषतः इति । तत्र निरुपस्तम्भमन्याधानकेन समीप संभविनाऽनाधरितं वायुं स्नेहै रादावे वोपचरेत् । आमयुक्ततुएरण्डतैलेन रेचनं दत्वा त्रिकटु संसिद्धैः पानादिभिः रूक्षस्वेदादिभिरुपाचरेदिति ॥

बाह्यस्यच धर्मानुष्ठानादिभिः प्रकृति स्थापनमिति ॥ ४ ॥

भा. टी.–उस प्रकुपित वायु का वायु से विपरीत गुणकारी द्रव्यों प्रभावों और कर्मों से प्रशमन होता है । जैसे स्निग्ध, गुरु, उष्ण, श्लक्ष्ण, मृदु, पिच्छल,

घन, गुण प्रभाव वाले द्रव्यों से वायु को शमन करना चाहिये। मधुर, खट्टे, और नमकीन रसयुक्त उष्ण चिकने भोजन, वातनाशक तैल मर्दन, और स्नेह वस्ति क्रिया यह सब वात रोगियों को हितकारी होते हैं। आमरहित केवल वातरोग में स्नेहपान, स्नेहाभ्यङ्ग, उपनाहस्वेद, वात नाशक लेप प्रसेकादि वात हर कर्मों को करे। तथा तीक्ष्ण, उष्ण, स्निग्ध गुण कर्म प्रभाव वाले द्रव्यों से सिद्ध किये हुवे घृत तैलों का प्रयोग तब तक करता रहे जब तक वायु प्रकृतिस्थ होकर मनुष्य आरोग्य लाभ करे ॥

यदि साम कफावृत वायु हो तो घृत तैलों का प्रयोग न करे। किन्तु पञ्च कोलादि से सिद्ध किये जल में बनाया अन्न और पान (क्वाथादि) देवे। यहां साम और निराम वायु के लक्षण कहते हैं। जैसे सामवायु विबंध, अग्नि साद, तन्द्रा, अन्त्रकूजन, वेदना, शोथ, तोद, शूल से अङ्गों को पीडन करता है। आमयुक्त वायु कुपित हो विचरण करता हुवा स्नेहादि प्रयोग से वृद्धि को प्राप्त होता है तथा प्रातःकाल और मेघोदय के समय वृद्धी को प्राप्त होता है ॥

निराम वायु स्वच्छ, रूक्ष, अल्प वेदना वाला, विबंध रहित होता है स्नेहादि प्रयोग से शान्ति को प्राप्त होजाता है। उन में जो वायु दूसरे दोष के आश्रय रहित समीपवर्ती दोष से धारित न हो उसको आदि में ही स्नेह प्रयोग से जीते। आमयुक्त को एरण्ड तैल से रेचन देकर त्रिकटु से संसिद्ध अन्न पानादिकों से और रूक्ष स्वेदादिकों से उपचार करे। बाह्य वायु को तो धर्माऽनुष्ठानादि से प्रकृतिस्थ बनाना चाहिये ॥ ४ ॥

सू०—लघुः विस्रं सरं द्रवं सस्नेह तीक्ष्णोष्णं च पित्तम् ॥ ५ ॥

प्र. टी. तत्र पित्तम् लघुः, विस्रं (मत्स्यामगन्धिसदृशगन्धयुक्तम्), सरं सरण शीलम् (व्याप्तियुक्तं), द्रवं द्रवगुण विशिष्टम्, सस्नेह किञ्चित् स्नेहयुक्तम्, तीक्ष्णं मन्दविपरीतं शीघ्रकारिः, उष्णं च, इमे सप्त पित्तगुणा भवन्ति। तप सन्तापे इति सन्तापार्थकतपधातो रिच् प्रत्यये तकारस्येत्वे वर्णविपर्य्यये तस्य च ते कृते पित्तमिति रुपं सिद्धम्। तच्च पित्तं शरीरे पाचकालोचकभ्राजक रञ्जक साधकभे-

दात् पञ्चधा शरीरं पालयत्यविकृतः । यथा स्वाशये पाचकं पित्तमग्निरूपं तिलोन्मितम्। भ्राजकं कान्तिदं यत्तु लेपाभ्यंङ्गादि पाचकम् । रञ्जकंतु यकृत्प्लीह्नोस्तद्वशं शोणितं व्रजेत्। आलोचकमुभौ नेत्रे रूपदर्शनकारिः तत्। साधकं हृदये तिष्ठन्मेधा प्रज्ञाकरं च तत्। अत्र चरकः "अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गत कुपिताऽकुपितः शुभाशुभानि करोति" सुश्रतस्तु पित्तव्यतिरेकान्नान्योऽग्निरुपलभ्यते आग्नेयत्वात् पित्ते दहन पचनादिषु अभिवर्त्तमानैऽग्निवदुपचारः क्रीयते। क्षीणे ह्यग्निगुणे तत्समानद्रव्योपयोगात् अति वृद्धे शीत क्रियोपयोगात् आगमाच्च। ननु यदि पित्ताग्न्योरभेदः तर्हि कथं घृतं पित्त प्रशमनमग्निदीपनम्, अजापयोमत्स्यादयश्च पित्तवृद्धिं कुर्वन्ति न चाग्निदीप्तिकराः, दिवास्वप्नश्च पित्तप्रकोपनोप्यऽग्नि शमनः, तथेदमपि कथंस्यात् विषमो वातेन, तीक्ष्णः पित्तेन, मन्दः श्लेष्मणेति। समदोषः समाग्निश्चेत्यादिकमपि कथं स्यात्। तत्रोच्यते—नैष दोषः, येनायमग्निः परमार्थतः पित्तादभिन्न एव सुश्रुतादिभिरंगी कृतः। परं चक्रोधशोकश्रमकृतः शरीरोष्माशिरोगतः। पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते। अत्र शरीरोष्मा अग्निः पित्ताद्भिन्न एवोक्तः, तथा च द्रवं स्निग्धमधोगं च पित्तं वह्निरतोन्यथा अत्र समाधीयते पञ्चपित्तान्तर्गतजठराग्निवाचको वह्नी शब्दः

तच्च पक्वामाशयमध्यस्थं चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोषरसमूत्र पुरीषाणि। तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाऽग्नि कर्म्मणाऽनुग्रहंकरोति तस्मिन्पित्तेपाचकोऽग्निरितिसंज्ञा। यत्तु यकृत् प्लीह्नोपित्तम् सरसस्थ रागकृदुक्तः, तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरित्ति संज्ञा। यच्च हृदयस्थं सोऽभिप्रार्थित मनोरथ साधनकरः तस्मिन् साधकोऽग्निरितिसंज्ञा। यच्च त्वचिसोभ्यङ्गपरिषेकावगाहावलेपनादीनांपक्ता छायानाञ्च प्रकाशकः तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा। अत्र चिकित्सोपयोगिः पित्त लक्षणानि "पित्तमुष्णं द्रवं पीत्तं नीलं सत्वगुणोतरम्। कटु तिक्तरसं ज्ञेयं विदग्धं चाऽम्लतां व्रजेदिति"। नीलं सामावस्थायाम्, पीतं निरामावस्थायां, कटुरसं प्रकृतिस्थम्, विदग्धं विरुद्ध पाकोपपन्नम् पुनरम्लरसं विदग्धाजीर्णसंसृष्टमम्लरसं वा भवति, विदग्धं पित्तं अम्लपित्तरोगमिति केचित्॥ ५॥

भा. टी.—उनमें पित्त लघु, आमगंधयुक्त, सरणशील, पतला होने वाला, किञ्चित् स्नेहयुक्त, तीक्ष्ण, और ऊष्ण इन सात गुणों वाला होता है। तप सन्तापे इस संतापार्थक धातु से रिच् प्रत्यय होने पर तकार को इत्व करके वर्ण विपर्ययकर उस त को ते कर पित्त यह रूप बनता है। वह पित्त शरीर में

पाचक आलोचक, भ्राजक, रञ्जक, साधक, भेद से पांच प्रकार का होते हुए प्रकृतिस्थ हुवा शरीर का पालन करता है। जैसे-अपने अग्न्याशय में अग्नि रूप, तिल प्रमाण से जो पित्त रहता है उसको पाचक कहते हैं। भ्राजक पित्त शरीर में कान्ति के देने वाला लेप और अभ्यंगादिकों को पचाता है। रंजक पित्त यकृत और प्लीहा के बल से रस को रंग कर रक्त बनाता है। आलोचक पित्त दोनों नेत्रों में रहकर रूप दिखाने का काम करता है। साधक पित्त हृदय में रहता हुवा मेधा और प्रज्ञा को करता है। चरक में कहा है अग्नि ही शरीर में पित्त के अन्तर्गत है वह कुपित हुवा अशुभ और प्रकृतिस्थ हुवा शुभ करता है सुश्रत कहते हैं पित्त के अतिरिक्त और दूसरा कोई पदार्थ अग्नि नहीं किन्तु पित्त ही अग्नि है। क्योंकि आग्नेय होने से ही पित्त में दहन पचनादि गुण होने से इसका अग्नि के समान ही उपचार करते है। अग्नि का गुण क्षीण होने पर अग्नि वर्धक द्रव्यों का उपयोग करने से, अत्यन्त अग्नि के बढ़ जाने पर शीत क्रिया का उपयोग किया जाता है। और शास्त्र मत से भी पित्त ही अग्नि है ऐसा

सिद्ध होता है । यहां शंका की जाती है कि यदि पित्त और अग्नि में कोई भेद नहीं तो घृत पित्त प्रशमन करने वाला होते हुए अग्नि दीपन करने वाला क्यों कहा है ? बकरी का दूध और मछली आदि पित्त बढ़ाते हैं परन्तु अग्नि को संदीपन नहीं करते और दिन में सोना पित्त को कुपित करता है और जठराग्नि को शमन करता है इस के अतिरिक्त शास्त्र के इन वाक्यों का समाधान कैसे होगा जैसे वाताधिक्य से विषमाग्नि होती है । पित्त से तीक्ष्णाग्नि, कफ से मन्दाग्नि और समदोषों से समाग्नि होती है । यहां कहते हैं यह कोई आपत्ति नहीं, जिस कारण यह अग्नि परमार्थतः पित्त से अतिरिक्त नहीं हैं, यह सुश्रुतादिकों ने माना है परन्तु क्रोध, शोक, श्रम से उत्पन्न हुई शरीर की ऊष्मा और पित्त शिर में पहुंच कर बालों को पकाती है तब वे सफेद हो जाते हैं । यहां पर शरीर ऊष्मा नामक अग्नि पित्त से भिन्न ही कही है । इस में और भी प्रमाण हैं कि पित्त द्रव रूप, स्निग्ध और अधोगामी होता है । अग्नि इस से पृथक् पदार्थ है । यहां समाधान किया जाता है:— पांच पित्तों के अन्तर्गत ही जठराग्नि का वाचक वन्हि

शब्द है। वह पक्काशय और आमाशय के मध्य में रहता हुआ चतुर्विध भक्ष्य भोज्यादि अन्नपान को पाचन करता है और दोष, रस, मूत्र तथा मलका विवेचन करता है। एवं, वहां पर स्थित ही अपनी शक्ति से शेष पित्त स्थानों का और शरीर का अग्नि कर्म से पोषण करता है। इस पित्त को पाचकाग्नि कहते हैं। जो पित्त यकृत् और प्लीहा में रहता हुआ रसको रंगकर रक्त बनाता है उस पित्त को रंजकाग्नि कहते हैं। जो पित्त हृदय में रहकर अभिप्रार्थित मनोरथों को पूरा करता है उसको साधक अग्नि कहते हैं॥

जो पित्त त्वचा में रहते हुए अभ्यङ्ग, परिषेक, अवगाहन और लेपादिकों को पचाता है तथा छाया का प्रकाशक है उसे भ्राजक अग्नि कहते हैं।

पित्त, ऊष्ण, द्रव, पीत, नील और सत्वगुण प्रधान है, इसके कटु और तिक्त रस हैं, यह विदग्ध होने पर खट्टा हो जाता है। इनमें नीलवर्ण सामावस्था में रहता है, पीत निरामावस्था में रहता है। ऐसे ही कटु रस प्राकृत अवस्था में होता है तथा

विरुद्ध पाक होने पर विदग्ध होकर खट्टा हो जाता है। अथवा विदग्धाजीर्ण के संसर्ग से खट्टा होता है। कोई विदग्धपित्त को अम्लपित्त रोग मानते हैं॥ ५ ॥

सू०-समानैरेवपित्तप्रकोपनं च ॥६॥

प्र. टी.-पित्तस्यापि पित्तसमान गुणकर्म प्रभाव द्रव्यै रभ्यस्य मानैः प्रकोपनं वृद्धिश्चभवति । यथा, कट्वम्लोष्ण विदाहि तीक्ष्ण लवण क्रोधोपवासातपः, स्त्री संपर्क तिलातसीदधिसुराशुक्तारना लादिभिः । भुक्ते जीर्यति भोजने च शरदि ग्रीष्मे सति प्राणिनां मध्यांह्नेच तथार्द्धरात्रसमये पित्तं प्रकोपं व्रजेत् ॥ ६ ॥

भा. टी.-पित्त का भी अपने समान गुण कर्म प्रभाव वाले द्रव्यों के सेवन से तथा पित्त वर्द्धक विहार से वृद्धि और प्रकोप होता है। जैसे चरपरे, खट्टे, उष्ण, दाहकारी, तीक्ष्ण, नमकीन, पदार्थों के सेवन से। क्रोध, उपवास धूप, स्त्री संग, तिल, अलसी, दधी, तीक्ष्णमद्य, सिरका, कांजी आदि के सेवन से। भोजन परिपाक के समय, शरद ऋतु में ग्रीष्म

में, मध्यान्ह में, और आधीरात के समय पित्त का प्रकोप होता है ॥ ६ ॥

सू०-तत्प्रकोप एव पित्तव्याधिः ।७।

प्र. टी.—तत्पित्त प्रकोप एव व्याधिः । यद्यपि स्वतंत्र रूपेण वायुरेव व्याधि करो यथा चोक्तं सुश्रुते दोषाणां विकृतवात एव रोगसमूह जनकः । पित्तं पङ्गुः कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षंति मेघवत् । परंच स्वकारणैः कुपितं पित्तं वातानुबलप्राप्तेऽपि वाताभिन्नप्रकृतिकान् पित्तव्याधीन् जनयति । यथा विस्फोटाम्लकधूमकाः प्रलपनं स्वेदस्रुतिर्मूर्च्छनं, दौर्गन्ध्यं दरणं मदो विसरणं पाकोऽरति तृड्भ्रमः, ऊष्माऽतृप्तिः तमः प्रवेशदहनं कट्वम्लतिक्ता रसाः, वर्णः पीतहरिद्रता कथितता कर्माणि पित्तस्यवै । अत्र प्रकृतिस्थं कटुरसं, विदग्धमम्लरसं निरामं तिक्तरसं जानीयात् तथाच उष्मापित्तादृतेनीस्ति । एवं पित्तं वृद्धंमत्वा रेचयेत् इत्यादि वाक्यैः सर्वथा स्वतन्त्र एव पित्त व्याधिरिति पित्त व्याधिनिदानम् ॥ ७ ॥

भा. टी.—वह पित्त का प्रकोप ही पित्त व्याधि जानना । यद्यपि स्वतन्त्र रूप से वायु ही व्याधि का-

रक होता है जैसे सुश्रुत में कहा है सम्पूर्ण दोषो में विकृत वायु ही रोग समूहों को उत्पन्न करता है। पित्त पङ्गु है, कफ पङ्गु है, और सब मल तथा धातुएं पङ्गु हैं। इनको वायु जिस स्थान में ले जाता है उसी स्थान में ये जाकर विकार करने लगते हैं। जैसे मेघों की गति वायु के आधीन है वैसे ही पित्त कफादि भी वायु द्वारा ही लेजाए जाते हैं। परन्तु अपने कारणों से कुपित हुआ पित्त वात से अनुबल पाने पर भी, वायु से भिन्न प्रकृति वाले पित्त रोगों को करता है। जैसे विस्फोटक, अम्लपित, धूमोद्गार, प्रलाप, स्वेदस्राव, मुर्छा, दौर्गन्ध्य, दरण, मद, सरण, पाक, अरति, प्यास, भ्रम, ऊष्मता, भस्मक, तमप्रवेश और दाह इन स्वतन्त्र पित्त रोगों को करता है। कटु, अम्ल, और तिक्त इस के रस होते हैं ॥

पीत, हरित, और क्वथित सा ये इस के वर्ण होते हैं। इनमें प्रकृतिस्थ पित्त का कटुरस, विदग्ध अर्थात् विरुद्धपाक होने पर अम्ल, निराम प्रकुपित पित्त का तिक्त रस होता है। ऐसे ही शुद्ध पित्त का पीला और विकृत का हारिद्र तथा क्वथित सा वर्ण होता है। और ऊष्मा पित्त के बिना नहीं होती। बढ़े हुवे

पित्त को जान कर रेचन करावें । इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि वात से भिन्न ही पित की स्वतंत्र व्याधियां होती हैं। इस प्रकार पित्त व्याधियों के निदान को जानना चाहिये ॥ ७ ॥

सू०-मधुर तिक्त कषायैः शीतैश्च पित्तं जयेत् ॥ ८ ॥

प्र. टी.-पित्त मपि विपरीत गुण कर्म प्रभाव द्रव्यैः मधुर तिक्त कषाय रसैः शीतैश्च आहार विहारादिभिर्जयेत् अत्रापि सांम निरामं ज्ञात्वैव चिकित्साविधेया । सामनिराम लक्षणानि । दुर्गन्धं हरितं श्यावं पित्तमम्लं स्थिरं गुरुअम्लिका कण्ठ हृद्दाह करं सामं विनिर्दिशेत् ॥ निरामंतु । आताम्र पीत मत्युष्णं रसे कटुकमस्थिरम् । पक्वं विगंधं विज्ञेयं रुचिपक्तृवलप्रदम् । एवं विज्ञाय सामं तु पाचयेत् पूर्वं ततः शांतै रुपाचरेदिति ॥ ८ ॥

भा. टी.-पित्त को भी पित्त से विपरीत गुण, कर्म, स्वभाव, वाले द्रव्यों से तथा मधुर, तिक्त, कषाय रसों से और शीतल आहार विहारादि क्रिया से जीतना चाहिये । यहां पर भी सामता निरामता

जानकर ही चिकित्सा करनी चाहिये । साम और निराम के ये लक्षण हैं । पित्त का दुर्गन्धित, हरित, श्याव, अम्ल, स्थिर और भारी होना, खट्टी डकार, कण्ठ और हृदय में दाह होना यह सामपित्त के लक्षण हैं । ताम्रवर्णता, पीतता, अत्यन्त उष्णता, रस में कटुता और अस्थिरता तथा निर्गन्धिता यह निराम पित्त के लक्षण हैं । निराम पित्त रुचिकारक और पाचन शक्ति को बढ़ाने वाला होता है । ऐसे जान कर यदि साम पित्त हो तो पहिले आम को पचाकर फिर शीतल क्रियाओं से शमन करे ॥ ८ ॥

सू०-श्लक्ष्णोमृत्स्नः गुरुर्मन्दःशीतः स्निग्धः स्थिरश्च कफः ॥ ९ ॥

प्र. टी.—अत्र कफः-श्लक्ष्णः श्वेतोऽपरुषश्च, मृत्स्नो मृद्यमानोङ्गुलिग्राही, गुरुगुरुत्ववानलघु, मंदः तीक्ष्णाविपरीतश्चिरकारी, शीतः शीतलस्वभावश्चानुष्णः, स्निग्धश्चिक्कणः, स्थिरोऽचलः लिप्तस्वभावो वा । अत्र श्लिष आलिङ्गने धातोर्मनिन् प्रत्यये गुणे च कृते श्लेष्मेति रूपं जातम् । श्लेष्मा तमोगुण प्रधानः मधुरश्च । विदग्धस्तु लवणतां व्रजेत् ।

श्लेष्माऽपि क्लेदन, अवलंवन, रसन, स्नेहन, विश्लेषण, इति पञ्चधाविभज्य देहं पालयति । यथा—आमाशयेथ हृदये कण्ठे शिरसि सन्धिषु स्थानेष्वेषु मनुष्याणां श्लेष्मा तिष्ठत्यनुक्रमात् । क्लेदनः क्लेदयत्यन्नमात्मशक्त्याऽपराण्यपि अनुगृह्णाति च श्लेष्मस्थानान्युदक कर्मणा । रस युक्तात्मवीर्य्येण हृदयस्या ऽवलंबनम् । त्रिकसंधारणं वापि विदधात्यवलंबनः उभावपि ततः सौम्यौतिष्ठतश्चान्तिके यतः । यतोरसान्विजानीतो रसना रसनौ समौ। स्नेहनः स्नेहदानेन समस्तेन्द्रियतर्पणः। श्लेष्मणः सर्व सन्धीनां संश्लेषंविधदात्यसौ । चकारात् श्लेष्मा श्वेतः मृदुस्थिरादि गुणयुक्तः । प्रकृतिस्थ मधुर रसः, प्रदुष्टो लवण रसः ॥ ९ ॥

भा. टी.--श्लक्ष्ण, मृत्स्न, गुरु, मन्द, स्निग्ध और, स्थिर—इन छै गुणों वाला कफ होता है। इन में परुषता रहित श्वेत को श्लक्ष्ण कहते हैं। और आम गंध के समान गन्ध वाले को मृत्स्न कहते हैं। गुरु आदिकों का अर्थ प्रसिद्ध ही ह। यहां पर श्लिष आलिङ्गने इस धातु से मनिन् प्रत्यय होने पर गुण कर के श्लेष्मा यह रूप सिद्ध होगा। श्लेष्मा तमोगुण प्रधान और मधुर रस वाला होता है। विदग्ध होने पर लवणता को प्राप्त होता ह । श्लेष्मा

भी क्लेदन, अवलम्बन, रसन, स्नेहन और विश्लेषण इन पांच प्रकार का होते हुए देह का पालन करता है। जैसे आमाशय, हृदय, कण्ठ, सिर और सन्धियों में श्लेष्मा रहता है। उन में क्लेदन कफ, अपनी शक्ति से आमाशय में रह कर अन्न को क्लेदन करता है और अन्य श्लेष्म के स्थानों को उदक कर्म से सहायता करता है। अवलम्बन कफ रस युक्त होकर हृदय में रहता हुआ अपनी शक्ति से हृदय का अवलम्बन करता है और त्रिक स्थान को धारण करता है। क्योंकि रस और रसना दोनों जलीय हैं इसलिये रसना और रसनकफ दोनों एक ही स्थान में रहते हुए रस ज्ञान को करते हैं। स्नेहन कफ सम्पूर्ण इन्द्रियों को स्नेह दान से तृप्त करता है। संश्लेषण कफ, संपूर्ण सन्धियों का विश्लेषण करता है। कफ श्वेतवर्ण, मृदु आदि गुण युक्त जानना, प्रकृतिस्थ कफ मधुर होता है, विदग्ध हुआ लवणता को प्राप्त होता है। यह चकार से जानना ॥ ९ ॥

सू०–स्वयोनिवर्द्धक द्रव्यगुण कर्म प्रभावैश्च विवर्द्धनम् ॥ १० ॥

प्र. टी–श्लेष्मणोऽपि समान गुण कर्म प्रभाव द्रव्यैश्च विवर्द्धनं कोपनञ्चभवति । वृद्धिःसमानैः सर्वेषांमिति नियमः। यथा "गुरु मधुररसातिस्निग्धदुग्धक्षुभक्ष्य, द्रवदाधिदिन निद्रापूप सर्पिः प्रपूरैस्तुहिन पतन काले श्लेष्मणः संप्रकोपः प्रभवति दिवसादौ भुक्तमात्रे वसन्ते "। गुरु मधुरादि द्रव्यै रभ्यस्यमानैः श्लेष्मा प्रकोपं प्राप्नोति । दिवसादौ हिमपतनसमये वसन्ते भुक्तमात्रे च स्वाभाविकं कोपम्भवति १०

प्र. टी.–स्वयोनिवर्द्धक द्रव्य, गुण, प्रभाव और कर्मों से कफ की वृद्धि और प्रकोप होता है । क्योंकि समान गुण कर्मों से सब की वृद्धि होती है यह नियम है । जैसे गुरु, मधुरस, स्निग्ध, दूध, इक्षु विकार, द्रव पदार्थ, दधि दिन में सोना, पूड़े, घृत, घेवर आदि मिठाइयें, इनके अति सेवन से कफ की वृद्धि तथा प्रकोप होता है, एवं हिम पड़ने के समय प्रातः काल, भोजन करने पर और वसन्त ऋतु में कफ की वृद्धि और प्रकोप स्वाभाविक ही होता है ॥ १० ॥

सू०—स एव रुजाकरः ॥ ११ ॥

प्र. टी.—स कफ प्रकोप एव रुजाकरः । तस्य कफस्य प्रकुपिताऽवस्था एव व्याधि रिति । तत्प्रकुपितस्य कर्माणि । "तृप्तिस्तन्द्रा गुरुता स्तैमित्यं कठिनता मलाऽधिक्यम् । स्नेहाऽपक्त्युपलेपाः शैत्यं कण्डू प्रसेकश्च । चिर कर्तृत्वं शोथो निद्राधिक्यं रसौ पटुस्वादू । वर्ण श्वेताऽलसता कर्माणि कफस्य जानीयात् " ॥

एवं प्रकुपितस्यश्लेष्मणः देशकाल स्थान विशेषैः रोग विशेषं बलाऽबलंच प्रकल्पयेत् ॥ ११ ॥

भा. टी.—वह कफ प्रकोप ही दुःख कारक होता है । कफ की प्रकुपिताऽवस्था ही व्याधि है । प्रकुपित कफ के यह कर्म होते हैं तृप्ति (अन्नादि पर रुचि न होना) तन्द्रा, भारीपन, शरीर का गिलगिला सा प्रतीत होना, काठिन्य, मलों की अधिकता, चिकनाई की अधिकता, अन्न का परिपाक न होना, मुंह में कफ लिपा सा रहना, जाड़ा लगना, खाज होना, मुंह से लार गिरना, देर में काम करना या कफ का परिपाकादि देर में होने से रोग का देर में बनना और देर में ही शमन होना, सूजन, निद्रा की

अधिकता, मुख का स्वाद नमकीन या मीठा होना, नेत्र नख मूत्रादि सफेद वर्ण के होना, और आलस्य होना ये कुपित कफ के कर्म या कफ रोगों का संकेत जानना । इस प्रकार प्रकुपित कफ के देश काल भेद से रोग और उनके बलाऽबल की कल्पना करे ॥ ११ ॥

सू०-तीक्ष्णोष्ण रूक्षादिभिकफम् १२

प्र. टी.–तीक्ष्णैस्त्रिकट्वादिभिः उष्णैः उष्णौषधान्न विहारैः रुक्षैः मध्वादिभिश्च श्लेष्माणंजयेत् । आदि शब्देन रुक्षस्वेदादिभिर्जयेत् । अत्रापि दोष दूष्य देश बलादींश्च ज्ञात्वा चिकित्सां कुर्यात् ॥ २ ॥

भा. टी.–प्रकुपित कफ को अर्थात् कफ व्याधि को तीक्ष्ण त्रिकुट (सोंठ मिर्च पीपल) आदि द्रव्यों से, ऊष्ण औषध, अन्न, विहारों से और मधु आदि रुक्ष पदार्थों से जीतना चाहिए तथा बालुका स्वेदादि रुक्ष स्वेदों से जीतना चाहिए । यहां भी दोष दूष्य बलाऽबलादि विचार कर चिकित्सा करना चाहिये ॥ १२ ॥

सू०-द्वाभ्यां संसर्गश्च: ॥ १३ ॥

प्र. टी.--अत्र संसर्गस्त्रिधा । वातापित्ताभ्याम् वात कफाभ्याम्, कफापित्ताभ्याञ्च । यत्र द्वयोर्हेतु लक्षण संसर्गः तत्र द्विदोषजोव्याधिर्ज्ञेयाः। परञ्चात्रापिदोष दूष्य बलकालादीन् वृद्धि क्षयादिकञ्च विचार्य चिकित्सा कर्तव्या इति चकाराद्बोध्यम् ॥ १३ ॥

भा. टी.—संसर्ग तीन प्रकार से होता है। वात पित्त से, वात कफ से, और कफ पित्त से, जहां दो २ दोषों के हेतु और लक्षण मिल जायें उसको द्विदोषज रोग जानना। यहां पर भी दोष, दूष्य, बल, काल, दोषों की वृद्धि, क्षय, दोनों दोषों के अंशों की न्यूनाधिकता का विचार कर चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १३ ॥

सू०-त्रिभिश्च सन्निपातम् ॥ १४ ॥

प्र. टी.—यत्र वातादीनां त्रयाणां हेतु लक्षण समवायो भवेत्तत्र सन्निपातं वदेत् । चकारात् त्रिदोषघ्नैर्जयेदिति सूत्रार्थः । अत्र शंक्यते यद्वातादीनां विभिन्नचयप्रकोप कालत्वेन युगपदवस्थानाभावात्संचयप्रकोपकालादीनां युगपदुदयस्थानाभावात्कथं संभूय सन्निपातजरोगारम्भकत्वम्।

अत्र चेन्मन्यसे त्रिदोषकर निदान बलेन प्रकोपादेषां युगपदुपस्थितिः, तदपि न सम्भवति, सति निदानोप सेवनेऽपि विपरीतैर्गुणैः परस्परमुपशमात्प्रकोपस्यानुप पत्तेः। तत्रोच्यते न खलु निखिल एव गुणोविपरीतः समानस्यापि कतिपयगुणस्य सद्भावात्, समानगुणेनहि दोषाणामन्योन्य प्रकोपः सम्भावी। यथा वायुः रौक्ष्यलाघववैशद्यैः पित्तं प्रकोपयति। एवमेव पित्तमेभिरेवगुणैर्वातं प्रकोपयति। वायुःशैत्यात्कफम्। कफोऽपि शैत्याद्वायुम्। द्रवत्वेनपित्तं च कफम्। कफोऽपिपित्तमिति गुण सामान्यात्। विपरीत गुणस्तु भूयानल्पं समानगुणमाभिभूय प्रशममेव कुतो न करोतीति न शंकनीयम्। "विरुद्धैरपि न त्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम्। दोषाः सहज सात्म्यत्वाद्विषं घोरमहीनिव" अथच कर्मापेक्षया त्रिदोषकर द्रव्यप्रभावाद्दोषगुणान् दूषयन्ति परं तु न शमयन्ति। यत्र चोक्तं "तद्द्रवलासं वस्तिस्थं स रौक्ष्याद्धान्ति सोऽनिलः" इत्यादि वचनैः सहज सात्म्य सत्वेऽपिदोषाणामन्योन्यमुपघाताभिधानान्नघ्नन्ति सर्वथा न विनाशयन्तीतिकेचित्। मन्मते तु सर्वेदोषाः प्रकृतिस्था साम्यावस्थायां परस्परमनुग्रहं कुर्वन्ति देहञ्च धारयन्त्यविरोधिभावेन। परञ्च, स्वस्थान भ्रष्टा विकृताः कदाचित्कस्यांचिदवस्थायां परस्परं प्रकोपयन्ति, घ्नन्ति, विकृतिञ्चापादयन्तीति।

सन्निपातजव्याधयः प्रायेण असाध्याः कष्टसाध्या वा भवन्ति तत्र दोषवलं ज्ञात्वा शीघ्रमेव चिकित्सा विधेयाः। इह खलु सन्निपात चिकित्सायाम् ज्वराधिकारेतु "श्लेष्मनिग्रह मेवादौ कुर्याद्व्याधौत्रिदोषजे। निरस्ते श्लेष्मणिह्यस्य स्रोतः सूद्घाटितेषुच। लाघवं जायते सद्यस्तन्द्रा चैवोपशाम्यति।" एवमेव भोजः "सन्निपात ज्वरे सर्वं कुर्यादामकफापहम्। पश्चाच्छ्लेष्माणि संक्षिप्ते शमयेत्पित्त मारुतौ" यत्रतु तन्त्रान्तरे "शमयेत्पित्त मेवादौ ज्वरेषु समवायिषु दुर्निवारतरं तद्धि-ज्वरार्तेषुविशेषतः" तत्र तु अवस्था विशेषंज्ञात्वा एवं कुर्यात्। यथा सामे त्रिदोषजे पूर्वं कफं जयेत्। आमपाकान्ते पित्त-मेवादौजयेत्। चिरजे त्रिदोषजे विषमज्वरे वात प्रधाने पूर्वं वातंजयेदिति। यथा "ज्वरे त्रिदोषजे सामे शमयेत्कफ मादितः। पाकान्तमागतेपित्तम् चिरजे विषमेऽनिलम्। यत्र तु। "वातस्यानुजयेत्पितं पित्तस्यानुजयेत् कफम्। त्रयाणां वा जयेत्पूर्वं योभवेद्बलवत्तमः। तत्राप्यवस्थायां चरितार्थम् बलवत्तरं दोषं पूर्वंजयेत्। सामे कफं। निरामे-पित्तं। चिरजेविषमे वातमित्यभिप्रायः। अन्येतु "वातस्यानु-जयेत्पित्तमित्यादि श्लोकोतिसार रोगे चरितार्थ इति भणन्ति। अथ च॥

" लङ्घनं वालुकास्वेदो नस्यं निष्ठीवनं तथा ।
अवलेहोऽञ्जनं चैव प्राक्प्रयोज्यं त्रिदोषजे ॥
त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा दशरात्रमथापि वा ।
लङ्घनं सन्निपातेषु कुर्यादारोग्य दर्शनात् ॥
कफपित्तद्रवे धातू सहेते लङ्घनं महत् ।
आमक्षयादूर्ध्वमपि वायुर्न सहते क्षणम् ॥
अत्र ज्वरेषु लङ्घनादीनि कर्माणि वालुकास्वेदनादीनि तु सर्वत्र त्रिदोषजे रोगेकूर्यात् ॥ १४ ॥

श्रीपटियाला राज्याश्रित टकसालीय रामप्रसाद शर्मा
वैद्योपाध्याय प्रणीतायुर्वेदसूत्रे प्रसादिनी
टीकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

भा. टी.–जहां पर वात, पित्त और कफ इन तीनों के हेतु और लक्षणों का सम्बन्ध हो वहां सन्निपात जानना अर्थात् तीनों दोष कुपित होकर सम्मिलित हो जिस रोग को करें उसको सन्निपातज रोग जानना, और चकार से त्रिदोषघ्न द्रव्यों द्वारा सन्निपात को जीते यह सूत्रार्थ हुआ । यहां शंका की जाती है कि वायु आदि के सञ्चय प्रकोप के काल अलग २ होने से एक काल में और एक ही स्थान में तीनों की स्थिति नहीं हो सकती । ऐसे

ही सञ्चय प्रकोप काल आदि एक समय में न होने से और तीनों दोषों की उत्पत्ति स्थिति भी एक काल और एक स्थान में न होने से कैसे तीनों दोष मिलकर त्रिदोषजरोग को उत्पन्न कर सकते हैं, यहां यदि ऐसा कहो कि त्रिदोष कर हेतुओं के बल से एक ही काल में इनका प्रकोप होकर एक ही स्थान में स्थित हो रोग उत्पन्न करते हैं, यह भी नहीं हो सकता क्योंकि त्रिदोष कर हेतुओं के सेवन से भी विपरीत गुणों द्वारा परस्पर उपशम होजाने से त्रिदोष प्रकोप हो ही नहीं सकता। यहां कहा जाता है कि सम्पूर्ण त्रिदोषकारक निदान गुण विपरीत ही नहीं होते क्योंकि कुछ समान गुण भी उन में विद्यमान रहते हैं इसलिये समान गुण से ही दोषों का परस्पर प्रकोप हो सकता है। जैसे वायु अपने रूक्षता, लघुता और विशदता से पित्त को प्रकुपित्त करता है इसी तरह पित्त इन्हीं गुणों से वायु को प्रकुपित्त करता है। वायु शैत्यगुण से कफ को कफ शैत्य से वायु को, पित्तद्रवत्व से कफ को और कफ भी द्रवत्व से पित्त को कुपित्त करता है। यह गुणों की समानता से होता है। विपरीत गुणों की अधिकता

अल्प समान गुणों को बल पूर्वक शमन क्यों नहीं कर देती यह भी शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि वातादिदोष विरुद्ध गुण वाले होते हुए भी परस्पर एक दूसरे को नष्ट नहीं करते । जैसे सांप का विष सांप में रहते हुए भी सहज और सात्म्य होने से सांप को नष्ट नहीं करता । परन्तु कर्मापेक्षा से त्रिदोष कर द्रव्य प्रभाव, दोष गुणों को दूषित तो करता है किन्तु शमन नहीं करता, यहां कहा है उसी समान वस्तिस्थ कफ को अपनी रूक्षता से वह वायु नाश करता है इत्यादि वचनों से सहज सात्म्य होते हुए भी दोषों का परस्पर उपघाताभिधान से एक दोष दूसरे दोष का सर्वथा नाश नहीं करता अर्थात् कुछ हानि अवश्य पहुंचाता है यह किसी का मत है। मेरे मत में तो सब दोष प्रकृतिस्थ हुए साम्यावस्था में परस्पर एक दूसरे की रक्षा करता है और अविरोधि भाव से देह को धारण करता है। परन्तु अपने स्थान से भ्रष्ट होकर विकृत दोष कभी किसी अवस्था में एक दूसरे को प्रकुपित्त करते हैं, हनन करते हैं और विकृति को उत्पन्न करते हैं ॥

सन्निपातज रोग प्रायः असाध्य या कष्ट साध्य

होते हैं अतः उन में दोषों की गति जानकर सन्निपात की शीघ्र चिकित्सा करनी चाहिये। सन्निपात की चिकित्सा में ज्वराधिकार में कहा है कि त्रिदोषजनित व्याधि में पहिले कफ को जीतना चाहिये। कफ के निरस्त होने पर रोगी के स्रोत खुल जाते हैं और शरीर में हलकापन आजाता है तथा तंद्रा आदि उपद्रव शान्त होजाते हैं। ऐसे ही भोज ने कहा है कि सन्निपात ज्वर में सम्पूर्ण क्रियाएं प्रथम आम और कफ को दूर करने वाली करनी चाहियें। कफ के शमन होने पर पित्त और वायु का शमन करना चाहिये। यहां तंत्रान्तर में कहा है कि सन्निपातों में पित्त अतिदुर्निवार होता है और सान्निपातज्वर में तो विशेष रूप से ही पित्त दुर्निवार रूप से होता है वहां सन्निपात की अवस्था विशेष को जानकर ऐसा करना चाहिये। जैसे त्रिदोष ज्वर की सामावस्था में कफ को जीतना चाहिये। आम के परिपाक होने पर प्रथम पित्त को जीतना चाहिये, और चिरोत्पन्न त्रिदोषज वात प्रधान विषम ज्वर में प्रथम वायु को जीतना चाहिये। जैसे कहा है त्रिदोष ज्वर की सामाऽवस्था में प्रथम कफ को

परिपाकाऽवस्था में प्रथम पित्त को और चिरज विषम ज्वर में प्रथम वायु को जीतना चाहिये। जहां पर वात के अनन्तर पित्त को जीते ऐसा कहा है वहां भी यह वाक्य अवस्था में ही चरितार्थ है अर्थात् साम में कफ को, निराम में पित्त को और पुराने में वायु को या तीनों दोषों में जो अत्यन्त बढ़ा हुआ हो उसको जीते। कोई कहते हैं। "वातस्यानु जयेत् पित्तं" इत्यादि श्लोक अतिसार रोग में चरितार्थ है॥

सन्निपात में लंघन, वालुकास्वेद, लेखन नस्य (कायफलादि नस्य), निष्ठीवन (आर्द्रक रस मुख में धारण कर थूकना, अवलेह (अष्टाङ्गाऽवलेहादि), अञ्जन (तंद्रानाशक लेखनाञ्जन), यह प्रथम ही प्रयोग करने चाहिए। तीन दिन (वातप्रधान में), पांच दिन (पित्त प्रधान में) और दश दिन (कफ प्रधान में) लंघन करावे। अथवा जब तक दोष क्षय होकर चैतन्य और हलकापन प्राप्त हो तब तक लंघन करावे। पित्त और कफ तो द्रव धातु होने से लंघन अधिक भी सह सकते हैं परन्तु वायु रूक्ष होने के कारण लंघन को आम क्षय के अनन्तर

नहीं सह सकता । यह लंघन क्रम ज्वर में ही विशेष रूप से किया जा सकता है । और सान्निपातज शूल या शोथादिकों में वालुका स्वेदादि क्रियाएं ही हितकर होती हैं ॥ १४ ॥

श्रीपटियाला राज्याश्रित टकसालीय रामप्रसाद शर्म्मा वैद्योपाध्याय प्रणीतायुर्वेद तन्त्रे भाषा टीकायां द्वितीयोऽध्याय ॥ २ ॥



तृतीयोऽध्यायः ॥

सू०-निदान पूर्व रूप रूपोपशयाप्ति भिश्च परीक्षेत ॥ १ ॥

प्र. टी.-आदा रोगज्ञानार्थमेव यतेत । रोग ज्ञानानन्तरं हि चिकित्सारम्भो भवति । अतः रोगपरीक्षणार्थं पञ्चधाज्ञानोपाया भवन्ति यथा निदानं, पूर्वरूपं, रूपं, उपशयं, संप्राप्तिः । तत्र निदानं रोगोत्पादकोहेतुः । येन लक्षणेन उत्पित्सुरामयो लक्ष्यते तत्पूर्वरूपम् । रूपन्तु रोगव्यापको हेतुर्व्यक्त इति । सुखानुबन्ध्यहाराद्यपयोगोपशये व्याधिसात्म्याऽभि संज्ञितः । एवं दुष्टेनैव (विसर्पता) एवं स्थान स्थितेनैवमनुगतेन इत्यादि प्रसारक्रमेण यद्रोगनिर्वृत्तिः यथावद्रोगोत्पादनंक्रमविज्ञानं सा आप्तिः संप्राप्तिः । एते पञ्च समस्ता व्यस्तावा व्याधिबोधकाः । अत्र समस्त पक्षे न कृत करणत्वं प्रमाण संप्लवस्यापि दृष्टत्वात् अनुमित प्रमेये प्रत्यक्षोपमानशब्दानामपिस्थितिसत्वात् । भिन्न पक्षे एकेनाऽपि प्रतिपादिते व्याधावपरेऽवश्यमभिधातव्याः भिन्न प्रयोजनत्वात् । (१) तथाहि निदानाभावे कथं तत्परि-मार्जनंभवेत् । यथा संक्षेपतः क्रियायोगे निदान परिवर्जन

यथामृद्भक्षणात्पाण्डुरोगः । अत्रमृद्भक्षणवर्जनं निदानज्ञानादेव । (२) तन्निदानं सन्निकृष्टविप्रकृष्ट भेदेनद्विधा । कदाचिच्च प्रत्यासन्नं निदानं बाधयित्वा विप्रकृष्ट हेतुकृतो दोष संचयो व्याधिं जनयतीत्यतो न केवलनिदानादेव सर्वत्र कार्यसिद्धि-र्भवति तत्र पूर्वरूपादेव रोगज्ञानम् । पूर्वरूप प्रयोजनन्तु यथा "ज्वरस्य पूर्वरूपे लघ्वशनमपतर्पणञ्च" । "वातज्वर पूर्वरूपे घृतपानम्" तथाच सर्वाणि पूर्वरूपाणि अति मात्रया यं विशंति तस्य मरणं विजानीयात् । चरकेऽप्युक्तं "हारिद्रवर्णं रुधिरंचमूत्रं विनाप्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः यो मूत्रयेत्तं न वदेत्प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः" इत्यादि ज्ञान क्रिया सम्पादनार्थं पूर्वरूपस्याभिधानम् । (३) रूप ज्ञानादेव साध्यासाध्यत्वं प्रतीयते । यथासुखसाध्येऽल्प रूपाणि भवन्ति । कष्ट साध्ये मध्यरूपाणि । असाध्येतु सर्व संपूर्णं लक्षणानि भवन्ति । (४) एवमनभिव्यक्तलक्षणे संकीर्णलक्षणे वा यत्र दोषविशेषबोधो न भवेत् तत्र चोपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत । यथाह चरकः गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यांपरीक्षेत । उपशयविपरीतोऽनुपशयः निदानान्तर्गतत्वादनुपशयस्य नषष्ठत्वापत्तिः । (५) निदान पूर्वरूप रूपादि प्रतीतस्यापि व्याधेरसत्यांसंप्राप्तौ चिकित्सो-पयोगिनोंशांशबलकालविकल्पनादिर्ज्ञानाभावाच्चिकित्सा विशेषो

न भविष्यति । तस्मान्निदानादयः पञ्चैव ज्ञातव्याः । एते पञ्च निदान शब्देनैवोच्यंते । हेतु लक्षण निर्देशान्निदानानीतिसुश्रुतः । निर्दिश्यते व्याधिरनेनेति निदानम् । निश्चित्य दीयते प्रतिपाद्यते व्याधिरनेनवेतिनिदानम् । व्याधिनिश्चयकरणं निदानमिति । एवं दोष दूष्य देश कालादि विचार्य चिकित्सा कर्तव्या इति चकारार्थः ॥ १ ॥

भा. टी.–प्रथम रोग ज्ञान के लिये यत्न करे। रोग ज्ञान के अनन्तर ही चिकित्सा का आरम्भ हो सकता है। इसलिए रोग की परीक्षा के पाञ्च उपाय होते हैं। जैसे निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, और संप्राप्तिः। इन में रोग के उत्पन्न करने वाले हेतु को निदान कहते हैं। जिस लक्षण से उत्पन्न होने वाला रोग जाना जाय उसको पूर्व रूप कहते हैं। जिस व्यक्त स्पष्ट लक्षण से रोग का स्पष्ट ज्ञान हो उसको रूप कहते हैं । औषध।न्नविहार का सुखानु वन्धी उपयोग उपशय कहा जाता है इसी को सात्म्य भी कहते हैं। जिस प्रकार दूषित हुए दोष ऊर्ध्व अधः गमन करते हुये जिस स्थान में जिस प्रकार स्थित होकर जिस प्रकार जो रोग उत्पन्न करते हैं इत्यादि प्रसार क्रम से रोग के अंश गति आदि

पूर्वक यथार्थ ज्ञान को संप्राप्ति कहते हैं । यह पांचों सब या एक दो या अलग २ व्याधि को जानने में कारण होते हैं ॥

यहां सब के पक्ष में किये हुवे का फिर करना नहीं है । कहीं प्रमेय की सिद्धि में प्रत्यक्षादि सब प्रमाण भी प्रवृत्त होते हैं । जो प्रमेय अनुमान से जाना जाता है वहां प्रत्यक्ष, उपमान और आप्तोदेश भी रहते ही है ॥

भिन्न पक्ष में एक से व्याधि ज्ञान होने पर भी अन्य अवश्य जानने चाहियें क्योंकि इन पांचों के अलग २ प्रयोजन हैं । (१) यदि निदान को न जानोगे तो रोग के उत्पन्न करने वाले कारण को कैसे हटा सकोगे । जैसे कहा है, संक्षेप से रोग को दूर करने का उपाय निदान (कारण) को हटा देना ही है, जैसे मृत्तिका खाने से पाण्डुरोग होता है, यहां मिट्टी खाने से हटा देना निदान ज्ञान से ही हो सकता है । (२) वह निदान सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट भेद से दो प्रकार का होता है । कभी २ प्रत्यासन्न निदान को दवा कर विप्रकृष्ट हेतुओं से हुवा दोष संचय रोग को उत्पन्न कर देता है,

इसलिये केवल निदान ही से कार्य सिद्धि नहीं हो सकती। वहां पूर्वरूप से रोग जाना जाता है। और पूर्वरूप का यह प्रयोजन है, जैसे ज्वर के पूर्व रूप में घी पीना। ऐसे ही सन्निपात के सम्पूर्ण पूर्वरूप बलवान हो जिस में प्रवेश करें उसकी अवश्य मृत्यु होगी यह जानना। चरक में भी कहा है प्रमेह के पूर्व रूप के बिना हारिद्रवर्ण रक्त वर्ण फेन युक्त जिसको मूत्र आवे उसको प्रमेह नहीं है, किन्तु रक्त पित्त का प्रकोप समझें। इत्यादि ज्ञान और क्रिया सम्पादन के लिये पूर्व रूप की आवश्यकता है। (३) रूप ज्ञान से ही साध्यासाध्य ज्ञान होता है, जैसे सुख साध्य में व्याधि के अल्प रूप (थोड़े चिन्ह) होते हैं। कष्ट साध्य में मध्यम रूप होते हैं। सब के सम्पूर्ण लक्षण असाध्य रोग में होते हैं। (४) जहां रोग में वातादि दोषों के प्रगट लक्षण नहीं होते या भ्रमात्मक हों और दोष ज्ञान न हो सके वहां उपशय और अनुपशय से दोष ज्ञान करे। जैसे चरक में कहा है गूढ़लिंग व्याधि को उपशय और अनुपशय से परीक्षा करे। उपशय से विपरीत अनुपशय होता है पञ्च निदान में इसको हेतु के अन्तर्गत होने से छठा

नहीं माना गया। (५) निदान, पूर्वरूप, रूप और उपशय के द्वारा जाने हुवे रोग में भी सम्प्राप्ति के बिना चिकित्सा के उपयोगी अशांश और बल काल विकल्पना का ज्ञान न होने से चिकित्सा की कल्पना ही नहीं हो सकेगी। इसलिये निदानादि पांच ही जानने चाहियें। यह पांच निदान शब्द से ही कहे जाते हैं। हेतु लक्षण के निर्देश से निदान कहे जाते हैं ऐसा सुश्रुत कहते हैं। अथवा इनके द्वारा व्याधि का निर्देश किया जाता है, इसलिये निदान कहते हैं। निश्चय पूर्वक प्रतिपादन की जाती है व्याधि इस से, इसलिये इसे निदान कहते हैं। इस प्रकार दोष दूष्य देशकाल आदि विचार कर ही चिकित्सा करना चाहिये। यह चकार का अर्थ है ॥ १ ॥

सू०—दर्शनादिभिश्च ॥ २ ॥

प्र. टी.—दर्शनस्पर्शनप्रश्नैर्गन्धज्ञानादिभिश्च रोगिणं परीक्षेत। तत्र कासमेहाद्यार्तेषु पतिशुक्लवर्णसंस्थान प्रमाणोपचयच्छायाविण्मूत्रच्छार्दितादिकं दर्शनेन दृष्ट्यापरीक्षेत

ज्वर गुल्म शीतोष्णश्लक्षणखरनाडीस्पन्दनादिकं स्पर्शनेन परीक्षेत । प्रश्नेन तु शूलारोचकस्वप्नदर्शनाभिप्रायसुख-दुःखान्यातुरमुखात्परीक्षेत । घ्राणेन इष्टानिष्ट गन्धं श्रोत्रेण च शब्दं पिपीलिकादिभिश्च रसं विजानीयात् ॥ २ ॥

भा. टी.-दर्शन, स्पर्शन और प्रश्नों द्वारा तथा गन्धादि द्वारा रोगी की परीक्षा करे कास, प्रमेहादि रोगों से पीड़ित मनुष्य के पीत शुक्लादि वर्ण संस्थान प्रमाण, उपचय, छाया, विष्ठा, मूत्र, और छर्दित आदि को देख कर परीक्षा करे । ज्वर, गुल्म, शीतता ऊष्णता, श्लक्ष्णता, खरता, नाड़ी फड़कना आदि हाथ से स्पर्श कर परीक्षा करे । शूल, अरुचि, स्वप्न का अभिप्राय, सुख दुःख आदिक रोगी के मुख से सुनकर परीक्षा करे । इष्ट गंध और अनिष्टगंध जो स्वयं ही रोगी के समीप जाने पर प्रतीत होने लगती है, घ्राण द्वारा जाने । श्रोत्र द्वारा निर्बल सबल शब्द श्वास आदि की परीक्षा करे । और मूत्र मल में मधुरता चीटियों के लगने से जान लेवे इस प्रकार रोगी की परीक्षा करे ॥ २ ॥

आयुर्वेद सूत्रम्



ग्रन्थकार:—

पं० रामप्रसाद शर्मा राज वैद्य पटियाला ।

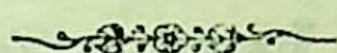
शुद्धि पत्रम्

अशुद्ध पाठ	पृष्ठ	पंक्तिः	शुद्ध पाठ
रक्षितुंमुपक्रममाणौ	१	८	रक्षितुमुपक्रममाणो
सम्वदिष्यति	२	७	सम्वदिष्यति
अध्यायग्रन्	२	८	अध्यापयन्
स्वसुताँ छात्राँश्च	२	९	स्वसुतां श्छात्रांश्च
व्रह्म स्याद	३	१०	व्रह्मा स्याद्
आयुर्वेद मूत्र	३	१८	आयुर्वेद सूत्र
शास्त्रान्तरेर्स्वपि	५	९	शास्त्रान्तरेष्वपि
भगवान्नोत्रयः	५	१५	भगवानात्रेयः
अथवाऽयुर्विद्यते	६	३	अथवा आयुर्विद्यते
लौकिकीं	६	६	लौकिकी
धारण करने जीचन	७	४	धारण करने वाले जीवन
उस आयुर्वेद	८	४	इस आयुर्वेद
यथोचित्त	८	४	यथोचित
संविज्ञान वराधी	८	१७	संविज्ञान विरोधी
वर्धनश्चर्थः	९	३	वर्धनश्चार्थः
सुखाप्तिर्ध	९	८	सुखाप्तिर्वा
सर्वाऽस्थासु	९	१३	सर्वावस्थासु
त्यागामुक्त	९	१६	त्यागान्मुक्त
औंर	१०	६	और
धान्य पात्र	१०	१८	धान्य पशु पात्र
मोक्ष है । जैसे	११	१०	मोक्ष है उसका उपाय लोक पुरुष का यथार्थ ज्ञान है । जैसे

अशुद्ध पाठ	पृष्ठ—पंक्तिः		शुद्ध पाठ
नहैं	११	१७	नहीं
उयेयाभिमत	१८	७	उपेयाभिमत
प्रतियत्ति	१२	१४	प्रतिपत्ति
शरीर	१८	११	शारीर
स्वभायिकाश्च	१८	१२	स्वाभाविकाश्च
विषादर्य्यो	१९	२	विषादेर्ष्या
शरीर	१९	१३	शारीर
करती है	२१	६	करतीं है
दीर्घायुप्रदश्च	२७	७	दीर्घायुष्प्रदश्च
ऽवस्थात्तो	३२	६	ऽवस्थातो
व्यायामोनशन	३२	८	व्यायामानशन
पढैं	३३	१२	पढे
गभार्तव	३५	५	गर्भार्तव
रसासंवहनो	३५	६	रससंवहनो
विनमनान्नेमन	३५	७	विनमनोन्नमन
असृग्दरादिभ्य	३६	४	असृग्दरादिभ्यः
गया	३६	११	गया है
समन	३९	९	समान
ऽऽप्पा	३९	१४	ऽऽप्या
नाशंश्च	४१	१८	नाशश्च
ऽरुणावा	४२	९	ऽरुणोवा
कमर्भि	४६	१८	कर्मभि
वायो	४७	७	वायौ
रित्ति	५१	५	रिति
पीत्तं	५१	१०	पीतं

अशुद्ध पाठ	पृष्ठ	पंक्तिः	शुद्ध पाठ
गुणोतरम्	५१	१०	गुणोत्तरम्
जसे	५३	८	जैसे
तेर्नास्ति	५६	१४	तेर्मास्ति
ह	६०	१६	है
हं	६०	२०	है
ातोस्निग्ध	६२	५	तिस्निग्ध
श्च:	६५	१	श्च
ज्ञेया:	६५	४	ज्ञेयः
मेवादो	६७	८	मेवादौ
वर्जन	७४	१७	वर्ज्जनम्
नादिर्ज्ञाना भावात्	७५	२०	नादिज्ञानाभावात्
विवर्धनं	८१	४	विवर्धन
प्रशमनं	८१	४	प्रशमन
स्वरूपान्तर्शदुर्भावो	८२	२	स्वरूपान्तरप्रादुर्भावो
करने है	८३	१३	करता है
संसार्गात्	८५	६	संसर्गात्
केचितु	८५	११	केचित्तु
एकोतर	८६	९	एकोत्तर
कर्मं	८९	१९	कर्म
वियचेदिव्यादि	९१	३	विपचेदित्यादि
प्लक्षोहुम्वरादयः	९३	२	प्लक्षोदुम्वरादयः
पाणादिकों	९५	१०	पाषाणादिकों
क्रुर	१०२	१७	क्रूर
येनच प्रकोप	१०३	१५	येनच कफ प्रकोप
सकेत	१०५	१९	संकेत

❀ भूमिका ❀



यया किल रावणरणहुङ्कारपूरिते लङ्कासङ्ग्रामाङ्गणे सर्वनाशमिवापस्वप्नायमाणोऽनुजवियोगविह्वलो दाशरथिः प्राणानिव लक्ष्मणनेत्रोन्मीलनेन पुनरासाद्य सीतामिव त्रैलोक्य विजयलक्ष्मीं लेभे, यामनुशील्याश्विनीकुमारौ जराजर्जितवपुषे च्यवनाय महर्षये समुद्भिन्नयौवनां सुकुमारां कुमारतामन्वगृह्णतां यत्कृपया ताभ्यां यज्ञस्य शिरः संधत्तं, प्राप्तश्च यज्ञभागः। ययाहि महर्षिशापपावकप्लुष्टं परीक्षितं रक्षितुमुपक्रममाणौ भिषगाचार्यः सर्पफूत्कारभस्मीकृतं वृक्षं पुरुषं च जीवयन्, सर्पदर्पं तिरश्चकार, यामनुराध्याऽर्जुन इव नागार्जुनोऽनुपतन्तं कालमपि भर्त्सयामास, यत्कृपया ब्रह्मानन्दमिव पारदरसमास्वाद्य, शूलपाणिरिव गोरक्षनाथोऽव्याहतां व्योमचारितां ययौ, यया च भगवान् धन्वन्तरिरिमं लोकं युगपदेव जिघत्सितुमाक्रामतो मृत्योरट्टहासं शिथिलीचकार, सैवेयं सञ्जीविनी वैद्यविद्या कियदुपकरोति लोकस्येति समर्थयितुं न वचांस्यपेक्ष्यन्ते।

स्वल्पाक्षरमिदमायुर्वेदसूत्रं, न मया व्यापारपरायणेन-

समाजे वैद्यानां मानमुपार्जितुमुत्स्वप्नायमाणेन वा मनसा निवद्धम् । अपितु निजतनयानां सुकुमारमतीनामायुर्वेदशास्त्रेऽनुरक्तचेतसामपि शैशवभावाद्दुरवगाह्यानां चरकसुश्रुतादितन्त्राणामध्ययनात्पराजयमाणानां, संकलितार्थ इवायं मे सूत्राणां संग्रहो भूयसीमुपकृतिं करिष्यतीति धियैव ।

नाध्यातमपि मयेदमिदमारभमाणेन यदिदं लोकस्याऽपि तथैवोपयोक्ष्यते, विदुषां वा मतमिह सम्वदिष्यति । नच नाभैतदाकाङ्क्षितमपि मे वर्तते । अध्याययन्नध्यापको यथा जटिलविषयेषु संकेतांल्लेखयति तथैव स्वसुतांश्छात्रांश्चाध्यापयता संकेता एव किलैते मया कारिता आसन् । परमेतदिदानीं मुद्रणे परिणतं पुस्तकं लोकस्याऽपि दृष्टिपथमवतरिष्यतीति सत्पुरुषान् विदुषोऽभ्यर्थये यदहमस्य गुणदोषविवेचनया परमुपकृतो भविष्यामि, या च मे द्वितीयसंस्करणावसरे कामप्युपयोगितामावहेत् ॥

विनीत :—

रामप्रसाद शर्म्मा

* भूमिका *

जिसके द्वारा, रावण के हुङ्कार से भरे हुए, लंका के युद्धस्थल में अपने सर्वनाशका स्वप्न देखते हुए, भाई के वियोग से विकल रामचन्द्र जी ने भाई लक्ष्मण के जी उठने पर सीता की तरह तीन लोक की विजय लक्ष्मी का लाभ किया, जिसके द्वारा अश्विनी कुमारों ने, बुढ़ापे से जर्जरित च्यवनमहर्षि को नई जवानी वाला सुकुमार लड़कपन दिया, देवताओं की प्रार्थना से दक्षका सिर जोड़ा और यज्ञ में भाग लिया, जिसके अनुशीलन से अर्जुन की तरह नागार्जुन ने काल को फटकार दिया था, जिसकी कृपा से ब्रह्मस्वाद सदृश पारद रस का आस्वादन करके गोरख नाथ ने शंकर की तरह स्वच्छन्दता से आकाश में फिरने की शक्ति प्राप्त करली, जिसके बल से भगवान् धन्वन्तरि ने संसार को एक साथ खाने के लिये उद्यत मृत्यु के अट्टहास को फीका कर दिया, वही यह संजीवनी वैद्यक विद्या, संसार का कितना उपकार कर रही है, यह बताने के लिये शब्दों की आवश्यकता नहीं ।

यह छोटा सा आयुर्वेदसूत्र न तो मैंने किसी व्यापारिक दृष्टि से और न इस आशा से बनाया है कि

मैं वैद्यों के समाज में मान प्राप्त करूं । परन्तु सुकुमार मति अपने बच्चों के लिये जो आयुर्वेद से प्रेम रखते हुए भी बाल भाव के कारण चरक सुश्रुतादि बड़े २ ग्रन्थों को पढ़ने से जी चुराते हैं, सारगर्भित इन छोटे २ सूत्रों से उनको यथोचित लाभ होगा इसीलिए बनाया गया है।

संसार के लिए भी यह ठीक ऐसा ही उपयोगी होगा, या विद्वत्समाज इसमें मुझ से सहमत भी होगा, इसके लिखते समय मैंने इस ओर ध्यान भी नहीं किया न मुझे कुछ ऐसी इच्छा थी।

पढ़ाते समय अध्यापक जैसे जटिल विषयों पर नोट लिखवा दिया करते हैं, वैसे ही अपने लड़कों और शिष्यवर्ग को पढ़ाते समय मैंने उनको नोट कराए थे। परन्तु अब यह पुस्तकाकार में मुद्रित हो चुका है, अब इस पर सर्व साधारण की दृष्टी भी पड़ेगी ही, इसलिये सज्जन विद्वान् पुरुषों से सविनय प्रार्थना है कि मैं उनके द्वारा की गई गुणदोष की विवेचना से अति अनुग्रहीत हूंगा, जिस से द्वितीय संस्करण में कोई लाभ उठाया जा सके॥

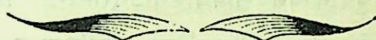
विनीत :—

रामप्रसाद शर्म्मा,

राजवैद्य पटियाला॥

॥ ओ३म् ॥

प्रथमः सन्दर्भः ॥



सू०—अथायुर्वेदः ॥ १ ॥

प्रसादनी टीका :—नमस्तस्मै महेशाय प्रसादाद्यस्य लेखनी,
अल्पेज्ञन प्रयुक्ताऽपि जायते गुणवर्द्धिनी ।
हेलाकल्पितसूत्राणामियं व्याख्या प्रसादिनी,
धात्रीव बालबोधाय कल्प्यते सरसा मया ॥

अथेत्यारम्भार्थो माङ्गलिकश्चाऽपि । ॐ काराथशब्दौ हि ख्यातौ मङ्गलार्थकौ । शास्त्रान्तरेस्वपि मङ्गलत्वेन प्रयुक्तोऽयमथशब्दः । 'अथ योगानुशासनम्,—अथातो ब्रह्म जिज्ञासेति इहखलु मङ्गलार्थं, शिष्टा चार प्रतिपादनार्थं, शिष्यशिक्षायै च निवध्यतेऽथशब्दः ।

शरीर जीवयोर्योगो जीवनम् । तदवच्छिन्नः कालोनामायुः, आयुषोवेद आयुर्वेदः । आयुः शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगधारि जीवितमिति भगवानात्रेयः ।

कस्मादायुर्वेदः ? आयुरस्मिन् विद्यतेऽस्तीत्यायुर्वेदः ? अथवाऽयुर्विद्यते ज्ञायतेऽनेनेत्यायुर्वेदः । आयुर्विद्यते ज्ञायते विचार्यतेऽनेनेत्यायुर्वेदः । अनेनायुर्विन्दति प्राप्नोति वेत्यायुर्वेदः उपदिश्यत इति सूत्रेशेषः । नितान्तमभावात् पयःसर्पिषो ह्रासमुपेयुषामल्पमेधसांवैद्यविद्याऽनुरागिणा मियं लौकिकीं धर्मार्थयशस्करीच जीवनाविद्या परिमिताक्षरैः सारसंवलितैः सूत्रैरुपदिश्यते । ब्रह्मादिभिः प्रणीतेस्वायुर्वेद तंत्रेष्वति विस्तरत्वा न्नार्थाधिगमः सुकरः ॥ १ ॥

भाषा टीका—सविनय श्री महादेव को बारं बारं प्रणाम।
जिनकी परम कृपालुता है साधक सब काम १
लीला कल्पित तंत्र की भाषा लिखौं बनाय।
राम प्रसाद प्रसादिनी जिमि बालक की धाय २

अथ शब्द आरम्भ और मङ्गलार्थक होता है। ॐकार और अथ, मङ्गल देने वाले शब्द हैं। शास्त्रान्तरों में भी अथ का मङ्गलार्थ प्रयोग किया गया है। यहां भी अथ का प्रयोग, मंगलकामना, शिष्टाचारकी मर्यादा और शिष्य भी ऐसा ही करें, इस उपदेश के लिये किया गया है। शरीर और जीवात्मा के योग को जीवन कहते हैं। जिस समय तक जीवन बना रहे उस काल को आयु कहते हैं।

आयु का विज्ञान जिस शास्त्र में हो उसको आयुर्वेद कहते हैं। जैसे आत्रेय जी ने कहा है—शरीर इन्द्रिय, मन और आत्मा के धारण करने जीवन मात्र को आयु कहते हैं। आयु इसमें विद्यमान है, या इससे आयु विचारी जाती है, या इस से जानी जाती है, अथवा आयु इस से प्राप्त होती है, इसलिये इसको आयुर्वेद शास्त्र कहते हैं। उस आयुर्वेद का इस तंत्र में उपदेश किया जायगा।

घी और दूध एकदम कम होगये हैं; इसलिये मन्द और अल्प बुद्धि वाले, वैद्यकजिज्ञासुओं के लिये धर्म अर्थ और यश पैदा करने वाली इस संजीवनी विद्या का सारभर छोटे २ सूत्रों से उपदेश करते हैं। प्राचीन ब्रह्मादिकों की बनाई हुई संहिताएं अति विस्तृत हैं इसलिये आसानी से अर्थ की प्राप्ति नहीं होती ॥ १ ॥

सू०—आरोग्यं चास्य विज्ञानात् २

प्र० टी०—अस्य चायुर्वेदस्य परिशीलनादारोग्यं लभते। स्वस्थो हि दीर्घमायुष्यं विन्दति। यथा च :—

आयुः कामयमानेन धर्मार्थ सुखसाधनम्।

आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ।

चकारान्मोक्षोपायसाधनता द्योत्यते । कथं वदिति ॥ २ ॥

भा. टी.-उस आयुर्वेद के यथोचित्त ज्ञान से पुरुष दीर्घायु और आरोग्यता को लाभ करता है । जैसे कहा है । धर्म अर्थ काम मोक्ष की साधन भूत आयु की कामना वाले मनुष्यों को आयुर्वेद के उपदेश में परम आदर करना चाहिये । सूत्र में चकार से मोक्षसाधनोपाय दीर्घजीवन का कथन किया है । उसी का विवेचन करते हैं ॥ २ ॥

सू०-पुरुषार्थ सिध्यर्थम् ॥ ३ ॥

प्र०टी०-तदारोग्यं दीर्घजीवनं च धर्मार्थ काममोक्षसाधनी भूतम् । तत्रा लौकिकत्वाददृष्टार्थत्वादप्रवृत्तानां यज्ञादीनां शास्त्रात्प्रवर्तनं, लौकिकत्वाद् दृष्टार्थत्वाच्च प्रवृत्तेभ्यश्च मांसभक्षणादिभ्यः शास्त्रादेव निवारणं धर्मः । अथवा यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धि स धर्मः । धर्मः पुरुषगुणः कर्तुः प्रियहित करोमोक्षहेतुः, अतीन्द्रियोऽन्त्यसुखसंविज्ञानवरोधी, पुरुषान्तःकरण संयोग विशुद्धाभि संधिजो वर्णाश्रमिणां प्रतिनियत साधनानिमित्तः ।

विद्याभूमि हिरण्यपशुधान्यभाण्डोपस्करमित्रादीनामर्जनं परिवर्धनञ्चर्थः श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानामात्मसंयुक्तेन मनसाधिष्ठितानां स्वविषयेस्वानुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः । अथवा स्पर्शविशेष विषयाभिमानिक सुखानुविद्धाफलवत्यर्थप्रतीतिः प्राधान्यात्कामः ।

आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिर्मोक्षः । दुःखध्वंसानन्तरं परमसुखाप्तिर्वे मोक्षः । सचपरमदयालोः परमेश्वरस्यैव कृपयातद्भक्तैः प्राप्यः । आत्रेयस्तु निवृत्तिरपवर्गः । निवृत्ते रुपायस्तु लोकपुरुषयो सम्यग् ज्ञानम् यदुच्यते ।

लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यतः ।
परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति ।
पश्यतः सर्व भूतानि सर्वाऽस्थासु सर्वदा ।
ब्रह्मभूतस्य संयोगो न शुद्धस्योपपद्यते ।
नात्मनः कारणाभावा ल्लिङ्गमप्युपलभ्यते ।
स सर्व कारणत्यागा मुक्त इत्यभिधीयते ।
विपापं विरजं शान्तं परमक्षर मव्ययम् ।
अमृतं ब्रह्म निर्वाणं पर्यायैः शान्तिरुच्यते ।

पुरुषार्थसाधनोपायभूतं रोगरहितं दीर्घमायुष्यं चायुर्वेदस्यप्रयोजनम् आयुर्वेदतत्वावधारणकामोऽधिकारी । धातुः क्रियासाम्यञ्चास्य प्रयोजनम् । अस्य तत्वार्थावबोधात्

तद्विध्यनुष्ठानाच्चारोग्याख्यस्योपेयस्य तथाभिमतस्यायुषः परमपुरुषार्थस्येदमेव तंत्रमुपायः । अत्रोपायोपेयलक्षण सम्बन्धवच्च हेतुलिङ्गौषधज्ञानमस्याभिधेयमुक्तम् ॥ ३ ॥

भा० टी०–वह आरोग्य और दीर्घ जीवन, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष साधन के लिये हैं ॥

(१) धर्म–अलौकिक और अदृष्टार्थक होने पर भी, अप्रवृत्त यज्ञादिकों की शास्त्राज्ञा से प्रवृत्ति कराते हुए, लौकिक और दृष्टार्थ होने से प्रवृत्त हुए मांस भक्षणादि का निवारण करने को धर्म कहते हैं। अथवा जिसके करने से मोक्ष प्राप्ति हो वह धर्म है। यथार्थ तो धर्म पुरुष का गुण है। कर्ता के प्रिय और मोक्ष का हेतु है। अन्त्य सुख और सम्यग् ज्ञान होने पर इसकी आवश्यकता नहीं रहती। यह पुरुष के अन्तःकरण में शुद्ध सात्विक सम्बन्ध होने से उत्पन्न होता है, वर्णाश्रमियों का प्रतिनियत साधन निमित्त धर्म है।

(२) विद्या, भूमि, सुवर्ण, धान्य, पात्र, मित्रादिकों का अर्जन करना और बढाना अर्थ है।

(३) श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, इन पांच ज्ञानेन्द्रियों का आत्मासंयुक्त मन के आधीन

सू०—द्रव्यं रसवीर्यविपाकप्रभावैश्च कर्म करोति ॥ ३ ॥

प्र. टी.—द्रव्यं खलु आत्मना रस गुण वीर्य विपाक प्रभावैश्च दोष विवर्द्धनं कर्म, दोषप्रशमनं कर्म च करोति । आत्मना—द्रव्यमात्मना पार्थिवाप्यतैजसादि रूपेण दोषं हन्ति करोति वा । गुरुः स्निग्धःस्तीक्ष्णो रुक्षो लघुरिति धराम्बुवन्हिवाय्वाकाशानां क्रमशो गुणाः, द्रव्यात्मनेत्यस्य पृथिव्यादि गुणैः कर्म करोतीत्यभिप्रायः । गुणास्तु "गुरुर्लघुर्मन्दस्तीक्ष्णो हिम उष्णः स्निग्धो रुक्षः श्लक्ष्णः खरः सान्द्रो द्रवो मृदुः कठिनः स्थिरः सरः सूक्ष्मः स्थूलो विशदः पिच्छल इति पञ्चमहाभूतसंर्गाद्वींशतिर्गुणाः," । यथा स्निग्धादिभिर्वातंजयेत् । रुक्षोष्णैश्च कफम् शीतैः पित्तम् । क्वचिद्रसेन यथा मधुराम्ललवणावातंघ्नन्ति । क्वचिद्वीर्येण वीर्यं द्विधा-उष्णं शीतञ्च । यथा बृहत्पञ्चमूलं कषायं तिक्तानुरसं-वातं, शमयेदुष्णवीर्यत्वात् । मधुरश्चेक्षूरसो वातं वर्धयति शीतवीर्यत्वात् । तिक्ता काकमाची पित्तं वर्द्धयति उष्ण वीर्यत्वात् । अम्लं कापित्थं मधुरञ्च क्षौद्रं कफं शमयति रुक्षवीर्यत्वात् । क्वचिद्विपाकेन । विपाकस्तु त्रिधा यथा मधुरः अम्लः कटुकः । अत्र मधुराज्जायतेश्लेष्मा । अम्ला-

त्पित्तम् । कटुकाद्वायुः । द्रव्याणां परिणाम कालभावी कार्यानुमेयो जाठराग्निसंबंधाद्रसस्य स्वरूपान्तर्शदुर्भावो विपाकः । सचमधुरलवणयोर्मधुरः । अम्लस्याऽम्लः । कटुतिक्त कषायाणां कटुकं इति । क्वचित्प्रभावेण यथा सहदेवी जटा शिरोबद्धात्र्याहिकं ज्वरं हन्ति । द्रोणपुष्पी रसः नेत्रयोरञ्जनात् चातुर्थिकं ज्वरं हन्ति । एवं द्रव्यं तदाश्रिता रसादयश्च-क्वचित् समस्ताः क्वचिद् व्यस्ता वा पालनं प्रकोपनं प्रशमनञ्च कुर्वन्तीति भावः ॥ ३ ॥

भा. टी.–द्रव्य ही अपनी आत्मशक्ति से तथा रस, गुण, वीर्य्य, विपाक और प्रभाव से दोष विवर्द्धन या दोष प्रशमन रूप कर्म करता है । यहां आत्म शक्ति से पार्थिव, जलीय, तैजस आदि रूप से दोष का हनन या विवर्द्धन करना प्रयोजन है । गुरु, स्निग्ध, तीक्ष्ण, रुक्ष और लघु ये भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश के क्रम से गुण है, द्रव्यात्मना का प्रयोजन पृथिव्यादि महाभूतों के गुणों से कर्म करना ही अभिप्राय है, वे गुण गुरु, लघु, मंद, तीक्ष्ण, हिम, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, श्लक्ष्ण, खर, सांद्र, द्रव, मृदु, कठिन, स्थिर, सर, सूक्ष्म, स्थूल, विशद, और पिच्छल ये पांच महाभूतों के संसर्ग से बीस

प्रकार के होते हैं । स्निग्धादिकों से वायु को जीते रुक्ष उष्णों से कफ को और शीतों से पित्त को जीते ॥

कहीं रस से जैसे मधुर अम्ल लवण रस वायु को शमन करते हैं ॥

कहीं वीर्य से–वीर्य दो प्रकार का है । स्निग्ध और शीत जैसे बृहत्यश्वमूल का क्वाथ कषैला और त्तिक्तानुरस होने पर भी उष्ण वीर्य होने से वायु को जीतता है । गन्ने का रस मीठा होने पर भी शीत वीर्य होने से वायु को बढ़ाता है । मकोय त्तिक्त होते हुवे भी उष्ण वीर्य होने से पित्त को बढाता है । कैथ का फल अम्ल होते हुवे भी और सहद मधुर होते हुवे भी रुक्ष वीर्य होने से कफ को शमन करते हैं ॥

कहीं विपाक से, विपाक तीन प्रकार का है जैसे मधुर, अम्ल और कटुक । मधुर विपाक से कफ उत्पन्न होता है । अम्ल से पित्त और कटुक से वायु होता है । द्रव्यों का परिणाम काल में होने वाला जठराग्नि के सम्बन्ध से जो रस का रूपान्तर प्रगट होता है उसको विपाक कहते हैं जो कार्य द्वारा

जाना जाता है। वह मधुर और लवण रस का मधुर होता है। अम्ल का अम्ल और कटु तिक्त कषाय का कटु विपाक होता है॥

कहीं प्रभाव से जैसे सहदेवी की जड़ सिर में बांधने से तृतीयक ज्वर हट जाता है। द्रोण पुष्टी का रस नेत्रों में डालने से चातुर्थिक ज्वर को नष्ट करता है, इस प्रकार द्रव्य और उसके आश्रित रस वीर्य, विपाक, प्रभाव, कहीं सब कहीं अलग २ पालन प्रकोपन और शमन करते हैं॥ ३॥

सू०—मधुराम्ल लवण कटुतिक्त कषाया रसाः॥ ४॥

प्र. टी.—मधुरादयः षड् रसा क्रमशो यथा पूर्वं बलावहा बलकारका ज्ञेयाः अत्र मधुरो रसः देहिनां प्रकर्षेण बलवर्द्धकः। कषायस्तु सर्वेभ्यो हीनबलकरः। एषु मधुरः स्वादुः घृत शर्करागुड़ादयो विज्ञेयाः। अम्लः मातुलुङ्ग चिञ्चाफलादिः। लवणः पटुः सैन्धवादिः। कटुरुष्णः मरीच्यादिः। तिक्तः भूनिम्बादि। कषायः शल्लकी तिन्दुक हरीतक्यादिः॥

त एते रसनेन्द्रियग्राह्यत्वाद्रसा विज्ञेयाः । खवाय्वग्नि-जल भूमिषु यथाक्रममेकोत्तरवृद्धया शब्द स्पर्श रूप रस गन्धाः, तस्माज्जल गुणविशिष्टत्वादाप्य एव रसः । स चाप्योरसः शेषभूतगुणसंसर्गाद्विदग्धः षट् प्रकारो भवति । यथा मधुरोऽम्लो लवणः कटुकस्तिक्तः कषाय इति । ते रसाः भूयः परस्पर संसार्गात् त्रिषष्ठिधा भिद्यमाना अपि षटत्वं नातिवर्तन्ते ; तेषु षट्सु—भूम्यम्बु गुण बाहुल्यान्मधुरः । भूम्यग्निगुणबाहुल्यादम्लः । जल दहन गुणबाहुल्याल्लवणः । वाय्वाग्निगुणवाहुल्यात्कटुकः । वाय्वाकाश गुणबाहुल्यात्तिक्तः । पृथिव्यनिल गुण बाहुल्यात्क-षाय इति । केचित्तु द्विविधा रसा अग्नीषोमीयत्वाज्जगतः । तत्र सौम्याः मधुरात्तिक्त कषायाः । आग्नेयास्तु कट्वम्ललवणाः । सौम्याः शीताः । उष्णाश्चाग्नेयाः । मधुराम्ललवणाः स्निग्धा गुरवश्च । कटुतिक्त कषाया रूक्षा लघवश्च । एते रसाः स्वयोनिवर्द्धका अन्य योनि प्रशामकाश्च । पंच षडेव रसाः न न्यूनाधिकाः द्विधातु वीर्यमेव तदेवाग्निसोमात्मकमिति ॥४॥

भा. टी.—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, और कषाय यह क्रम से छे रस यथा पूर्व अर्थात् कषाय से तिक्त, तिक्त से कटु, कटु से लवण, लवण से अम्ल, अम्ल से मधुर बल वर्द्धक होते हैं । इन में

कषाय सब से हीन बल और मधुर सब से अधिक बल वर्द्धक होता। इनमें मधुर घी खांड गुड़ादि पदार्थ जानने। लवण-सैन्धवलवणादि। अम्ल-बिजौरा नींबु इमली आदि। कटु-मिरच, पिपली पीपल आदि। तिक्त-चारायता, नीम आदि। कषाय-छल्ल, कंदु, हर्ड़ आदि पदार्थ जानने॥

यह छे रस रसनेन्द्रिय द्वारा जाने जाते हैं इसलिए इनको रस कहते हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमि में एकोतर वृद्धि से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध यह रहते हैं, इस से यह स्पष्ट जाना जाता है कि रस-जल का ही विशेष गुण है। वह जलीय रस शेष पृथिव्यादि चार महाभूतों के संसर्ग से परिपाक या संसर्गज परिणति को प्राप्त होकर मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय, इन छे भेदों वाला होजाता है। वह रस फिर परस्पर सूक्ष्म संसर्ग से त्रेसठ प्रकार का होते हुए भी छे प्रकार का माना जाता है। उन छेहों में पृथिवी और जल के गुणों की अधिकता से मधुर, भूमि अग्नि की अधिकता से अम्ल, जल और अग्नि की अधिकता से लवण। वायु अग्नि की अधिकता से

तीक्ष्ण । वायु आकाश की अधिकता से तिक्त । भूमि और वायु की अधिकता से कषाय । इस प्रकार छे रस होते हैं । कोई दो प्रकार के ही रस मानते हैं अग्नि सोमात्मक जगत् होने से । मधुर तिक्त कषाय सौम्य और अमल लवण कटु यह आग्नेय । सौम्य शीत और आग्नेय उष्ण होते हैं । मधुर अम्ल लवण चिकने और भारी होते हैं । कटु त्तिक्त कषाय रुक्ष और हल्के होते हैं । यह सब रस अपने समान योनि दोषादिकों को बढ़ाते हैं अन्य योनि को कम करते हैं परन्तु रस छे ही हैं न न्यून और न अधिक । दो प्रकार के वीर्य हैं वही अग्न्यात्मक और सोमात्मक जगत् होने से यह छे रस आग्नेय और सौम्य अथवा उष्ण और शीत कहे जाते हैं ॥ ४ ॥

सू०—कटुतिक्तकषाया वातं वर्द्धयन्त्यन्येघ्नन्ति प्रायः ॥ ५ ॥

प्र. टी.—कटुतिक्तकषाया रसा वातं वर्द्धयन्ति समान योनित्वात् । मधुराम्ललवणाश्च वातंघ्नन्ति विपरीतगुणकर्म स्वभावत्वात् । प्रायो बाहुल्यादेवंभवति न सर्वत्रैव, यथा

कषायोऽपि कुलत्थो वातं हन्ति उष्ण वीर्यत्वात् । ये रसा वात शमनास्तेषु यदि रौक्ष्यलाघव शैत्यानिस्युस्तदा ते वातं न शमयन्ति अपितु विपरीतयोनिधर्माण उष्णस्निग्धादि गुण संयुक्ता मधुराम्ललवणाः वातं शमयन्तीति भावः ॥ ५ ॥

भा. टी.-कटु, तिक्त, कषाय यह तीन रस वात के समान योनि होने से वायु को बढाते हैं । और मधुर, अम्ल, लवण, यह तीन रस विपरीत गुण कर्म स्वभाव वाले होने से वायु को नष्ट करते हैं । प्रायः सब ही जगह यह नियम नहीं जैसे कुलत्थ कषाय रस वाला होते हुए भी उष्ण वीर्य होने से वायु को नष्ट करता है । जो रस वायु को शमन करने वाले हैं यदि उन में रुक्षता, लघुता, शीतता हों तो वह वायु को शमन नहीं करते । विपरीत योनि धर्म वाले उष्ण स्निग्धादि गुण संयुक्त मधुर, अम्ल, लवण रस वायु को शमन करते हैं ।।५।।

सू०-अम्ललवणकटुकाः पित्तञ्च ॥ ६ ॥

प्र. टी.- अम्ललवणकटुका रसाः पित्तं वर्द्धयन्ति

समानगुण कर्म प्रभावत्वात्। तिक्तकषाय मधुराश्च शमयान्ति विपरीत गुण कर्म प्रभावत्वात् । अत्रापिबाहुल्यादेव यतः तिक्ता काकमाची पित्तं वर्द्धयति उष्ण वीर्यत्वात् । यदि पितघ्न रसेषु तैक्ष्ण्यौष्ण्य लाघवानिस्युस्तदाते तिक्त कषाय मधुरा रसा पित्तं न शमयन्तीति ॥ ६ ॥

भा. टी.—अम्ल, लवण, कटु, यह तीन रस पित्त के समानयोनि होने से पित्त को बढाते हैं। एवं तिक्त, कषाय, मधुर विपरीत गुण कर्म प्रभाव वाले होने से पित्त को शमन करते हैं। यहां भी प्रायः ही यह नियम जानना । क्योंकि काकमाची त्तिक्त होते हुए भी उष्ण वीर्य्य होने से पित्त को बढ़ाती है। जो रस पित्त शमन करने वाले हैं यदि उन में तीक्ष्णता, उष्णता, और लघुता यह गुण होंगे तो वह तिक्त, कषाय, मधुर, रस-पित्त को शमन नहीं करेंगे ॥ ६ ॥

सू०—श्लेष्माणञ्च मधुराम्ललवणाः ७

प्र. टी.—मधुराम्ललवणा रसाः श्लेष्माणमभिवर्द्धयन्ति समानयोनित्वात् । कटु त्तिक्त कषायाः प्रशमयन्ति विपरीत गुण कर्म प्रभावत्वात्। अत्रापि यदि तेषु स्नेहगौरव शैत्यानि-

स्युस्तदा ते श्लेष्माणं न प्रशमयन्ति। यथा कटुकं मूलकं स्निग्धवीर्यत्वाच्छ्लेष्माणं वर्द्धयति। अम्लञ्च कपित्थं श्लेष्माणं शमयतिरुक्षवीर्यत्वात् ॥ ७ ॥

भा. टी.-मधुर, अम्ल, लवण यह तीन रस समान योनि होने से कफ को वढाते हैं। कटु, तिक्त कषाय, यह तीन रस विपरीत गुण कर्म स्वभाव वाले होने से कफ को शमन करते हैं, यहां भी यदि कफ नाशक रसों में स्नेह, गौरव और शैत्य होगा तो वे कफ को शमन नहीं करेंगे। जैसे मूलक (शलजम) चरपरा होते हुवे भी स्निग्ध वीर्य होने से कफ को बढाता है। और कपित्थ फल अम्ल होते हुवे भी रुक्ष वीर्य होने से कफ को शमन करता है ॥ ७ ॥

सू०-द्रव्यं प्रधानम् ॥ ८ ॥

प्र. टी.-द्रव्य रस वीर्य विपाक प्रभावेषु द्रव्यमेव प्रधानं यतः द्रव्याश्रिता एव रसादयः, द्रव्यं विहाय न केवला रसादय उपलभ्यन्ते। व्यवस्थित्वात् द्रव्यमेव व्यवस्थितं न रसादयः यथा आमे फले ये रसादयस्ते पक्वे न सन्ति। स्वजात्यवस्थानाच्च पार्थिव द्रव्यं नान्यभावं

गच्छति। आरम्भ सामर्थ्याच्च यथा निम्बमानय, हरीतक्यानय, पर्पटमाहृत्य संक्षुद्यविपचेत् । आगमाच्च यथा दशमूलद्रव्याण्यादाय विपचेदित्यादि ॥

यच्चनानौषधीभूतं जगति किंचिद्रव्यमस्तीतिकृत्वा तं तं युक्तिविशेषमर्थं चाभि समीक्ष्य स्ववीर्य गुणयुक्तानि द्रव्याणि कार्मुकाणिभवन्ति । तानि यदाकुर्वन्ति स कालः । यत्कुर्वन्ति-तत्कर्म । येन कुर्वन्तितद्वीर्यं यत्र कुर्वन्ति तदधिकरणं । यथा कुर्वन्ति स उपायः । यन्निष्पादयन्ति तत्फलम् ॥ ८ ॥

भा. टी.–द्रव्य, रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव में द्रव्य ही प्रधान है, क्योंकि रस वीर्य, विपाक, प्रभाव, द्रव्य के ही आश्रित हैं, द्रव्य को छोड़कर केवल रसादिक कहीं अलग नहीं मिल सकते। व्यवस्थित भी द्रव्य ही हैं रसादिक नियत नहीं रहते जैसे कच्चे फल में जो रसादिक हैं वह पके में नहीं होते। द्रव्य ही अपनी जाति में रहता है, पार्थिव द्रव्य कभी वायवीय या आकाशीय आदि नहीं बनता। आरम्भ भी द्रव्य के ही आधीन है जैसे निम्ब लाओ, हरड़ लाओ, पापड़े को लाकर कूट कर पकावें इत्यादि क्रियायें द्रव्य की ही होती हैं। शास्त्राज्ञा से भी द्रव्य ही प्रधान है जैसे दशमूल

माना है। इन में बनस्पति, वृक्ष, वीरुध, औषध, यह चार प्रकार के स्थावर द्रव्य हैं। (१) जिन में बिना पुष्पों के फल आते हैं उनको वनस्पति कहते हैं, जैसे पिलखन गुल्लरादि। (२) जिनमें फूल और फल आते हैं उनको वृक्ष कहते हैं, जैसे आम आदि। (३) जो दूसरे के आश्रय फैलने वाली वल्लि विशेष हैं इनको वीरुध बेल कहते हैं। (४) जो फल के पकने पर या अपने परिपाक होने पर नष्ट होती हैं उनको औषाधियें कहते हैं ॥

जङ्गम द्रव्य भी, चार प्रकार के होते हैं, जैसे जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज उन में (१) जेर से पैदा होने वाले जरायुज होते हैं जैसे मनुष्य, पशु और व्याघ्रादि (२) अण्डे से पैदा होने वाले अण्डज, जैसे पक्षी और सर्पादि। (३) पसीने से पैदा होने वाले स्वेदज, जैसे यूका, लीख, मलज, क्रमि आदि। (४) जो प्रावृट्काल की वृष्टि द्वारा उत्पन्न होते हैं उनको उद्भिज्ज कहते हैं, जैसे वीर वहूटी, गंडोये आदि ॥

सोना चांदी लोहा आदि धातुवें स्फटिक हीरा आदि मणियें गेरु और मनसिल आदि द्रव्य पार्थिव कहे

जाते हैं । यहां सुवर्ण को आग्नेय द्रव्य मानते हुवे भी गुरुत्व काठिन्य स्थैर्यादि युक्त होने से और चतुर्विध वनस्पति आदि स्थावर द्रव्यों से पृथक दिखाने के लिए पार्थिव माना है । यद्यपि स्थिति शील होने से स्थावर शब्द से ही सब पार्थिव द्रव्य कहे जाते हैं परन्तु आहार में काम आने वाले फल मूल अवयवों में रस की प्रधानता होने से चार प्रकार के वनस्पति आदि गण में ही स्थावर शब्द वर्तमान हैं । तथा काष्ठौषधियों से पृथक स्वर्णादि और धातुपाणादिकों की औषधियों में प्रतिपादन करने के लिये स्थावरों से अलग पार्थिव कहे हैं ॥

वायु, धूप, छाया, चांदनी, अंधकार, शीत वर्षा आदि काल कृत औषधियां मानी हैं ॥ ९ ॥

सू०—चयकोपोपशमहेतव श्चैते॥१०॥

प्र. टी.—एत औषधयः स्वभावत एव दोषाणां संचय प्रकोपोपशमहेतवः, च शब्दाच्चिकित्सोपकारिणश्चापि । दूष्यन्ति काय वाक् चित्तानीति दोषा वातपित्तश्लेष्माणः । सञ्चयः वृद्धिः । प्रकोपो व्याधिताऽवस्था । उपशमः शान्तिरिति । चिकित्सोपयोगिनः । अत्र कालकृताअपि चिकित्सोपयोगिनः यथा "प्रवाते निशिवासयेत्" "निवाते

निचित्तं कृत्वा" आतपे परिशोषयेदित्यादि । चपकोपशमाः । यथा ग्रीष्मे वायुः संचीयते, प्रावृट्काले प्रकुप्यति, शरत्काले स्वयमेवोपशाम्यति । पित्तं वर्षासुचीयते, शरदि प्रकुप्पति, वसन्तेतु स्वयमेव शाम्यति । कफस्तु हेमन्तेचीयते, वसन्ते प्रकुप्यति, प्रावृट् काले चोपशाम्यति ॥

एवं समानाहारविहारैः संचयंप्रकोपञ्चापद्यन्ते ।
विपरीताहारविहारैश्चोपशममापद्यन्ते ॥ १० ॥

भा. टी.–ये औषधियां स्वभाव से ही दोषों का संचय प्रकोप और उपशम के करने वाली होती है । तथा चिकित्सा में काम देती हैं अर्थात् यथोचित प्रयोग करने से रोग निवृत्ति कारक होती हैं ॥

शरीर वणी और मन को दूषित करने वाले होने से दोष कहे जाते है, उन में शरीर को दूषित करने वाले वात, पित्त और कफ यह तीन दोष हैं । संचय वृद्धि को कहते है ! प्रकोप रोगावस्था है । उपशम रोग शान्ति को कहते है । चिकित्सोपकारी चिकित्सा में काम देने वाले हैं । यहां काल कृत वातादि भी चिकित्सोपयोगी है जैसे " इन द्रव्यों से हवा में रात को सुवासित करे, निर्वात स्थान में एकत्र करे, धूप में सुखावें, इत्यादि ॥

चय, कोप, और उपशम इस प्रकार जानना जैसे वायु का-ग्रीष्म में संचय, प्रावृट में प्रकोप, शरद ऋतु में स्वयमेव शमन होजाता है ॥

पित्त-वर्षा ऋतु में संचय, शरद ऋतु में प्रकोप, और वसंत में स्वयं उपशम, को प्राप्त होता है ॥

कफ हेमन्त में संचित, वसन्त में प्रकुपित और प्रावृट् काल में स्वयं ही शमन होजाता है ॥

इसी प्रकार स्वयोनिवर्द्धक आहार विहार से संचय प्रकोप को और विपरीत गुणकारी आहार विहार से उपशम को प्राप्त होते हैं ॥१०॥

सू०—सन्तर्पणाऽपतर्पणाभ्यामुपक्रमः ॥ ११ ॥

प्र. टी.—दोषाणां वातादीनां, धातूनां रसादीनाञ्च क्षयो वृद्धिर्वा रुजाकरः व्याध्यवस्था इति प्रथमाऽध्याये प्रतिपादितम् । अत्रोच्यते क्षीणं दोषं क्षीणंधातुं वा संतर्पणेन विवर्द्धनेन समतां नयेत् साम्यावस्थां प्रापयेत । वृद्धं दोषं धातुं वा अपतर्पणेन ह्रासनेन उपक्रमेत साम्यावस्थां प्रापयेदिति ।

सन्तर्पण पर्यायोबृंहणम् अपतर्पण पर्यायो लंघनम्। "बृहणं यद्बृहत्वाय लंघनं लाघवाय यदिति" ॥

तत्र क्षीणं वातं रूक्षैः विवर्द्धयेत् । क्षीणं पित्तं उष्णैः क्षीणं कफं स्नेहाद्यैर्विवर्द्धयेत् । क्षीणं रसं रसैः दुग्धादिभिश्च-वर्द्धयेत् । रक्तं रक्तवर्द्धनैर्द्रव्यैर्वर्द्धयेदित्यादि । अत्रक्रमः पूर्वोधातुः वृद्धः परंवर्द्धयति क्षीणः क्षपयतीति ॥

वृद्धं वातं स्नेहाद्यैः स्निग्धवस्तिभिश्च समं कुर्यात्। वृद्धं पित्तं विरेचनेन शीतलद्रव्यैश्चोपक्रमेत् । वृद्धं कफं रूक्षोष्णैः वमनादिभिश्चजयेदिति । एवं वृद्धं रसं लंघनेन कर्षण-द्रव्यैःश्च । वृद्धं रक्तं रक्तमोक्षणेन कर्षण द्रव्यैश्चजयेदिति ॥

अपतर्पणं द्विधा। शोधनं शमनञ्च। तत्रशोधनं यद्दोषान् बहिर्नयेत् । यथा निरूहणं, वमनं, कायविरेचनं, शिरोविरेचनं, रक्तमोक्षणं स्वेदनञ्च ॥ शमनन्तु समीकरणं, यच्च न निष्कासयति न चोदीरयति किन्तु स्वप्रमाणाद्धीनाधिकभावस्थितान् समीकरोति स्वप्रमाणस्थान् विदधाति तच्छमनम् ॥

सम्यग्लंघिते । विमलेन्द्रियता, लाघवं, रुचि, सम्यक्-मलादि विसर्गः, क्षुत्पिपासोदयः, उत्साहश्च । सम्यग्बृंहिते बलं, पुष्टिः, तत्साध्यामय संक्षयश्च । अतः नातिबृंहयेन्नातिह्रासयेत् किन्तु साम्याबस्थां प्रापयेदिति भाव ॥११॥

भा. टी.—वातादि दोषों और रस रक्तादि धातुवों का क्षय अथवा वृद्धि ही रोग होता है यह प्रथमाध्याय में कह आये हैं। यहां कहते हैं क्षीण दोष या धातु को संतर्पण अर्थात् बढ़ाने वाले द्रव्यों के उपयोग से बढ़ाकर साम्यावस्था में लावे। बढे हुवे दोष धातु को अपतर्पण से कम कर के साम्यावस्था में लावे। संतर्पण का दूसरा नाम बृंहण है और अपतर्पण का दूसरा नाम लंघन है। वाग्भट कहते हैं जो क्रिया बढाने के लिए की जाय उसको बृंहण कहते हैं। जो लघुता करने के लिए की जाय उसको लंघन कहते हैं॥

क्षीण वायु को रूक्ष क्रियाओं और रूक्ष द्रव्यों से बढ़ावे। क्षीण पित्त को उष्ण क्रियाओं और उष्ण द्रव्यों से बढावे। क्षीण कफ को स्निग्ध पदार्थों और आराम शयन आदि स्नेहन क्रियाओं से बढावे। क्षीण रस को अन्नादिकों के रसों और दूध आदिकों के सेवन से बढावे। क्षीण रक्त को रक्त वर्द्धक द्रव्यों और दूध सेवन से बढावे। रसादि धातुओं मे यह क्रम है कि रस के बढाने से रक्त की स्वयं वृद्धि होती है

और रक्त से मांस की मांस से मेद की इत्यादि क्रम से सब धातुएं पूर्व बढकर पर को स्वयं बढाती हैं ॥

बढी हुई वायु को स्निग्ध द्रव्यों से और स्नेह वास्ति आदि से साम्याऽवस्था में लावे। बढे हुवे पित्त को विरेचन और शीतल द्रव्यों के उपयोग से जीते। बढे हुये कफ को रूक्षोष्ण पदार्थों और वमन द्वारा जीते। बढे हुवे रस को लंघनों और रस को कम करने वाले द्रव्यों से जीते। बढे हुवे रक्त को रक्त मोक्षण और रक्त कम करने वाले नीम चरायता पापडा आदि से जीते ॥

अपतर्पण दो प्रकार का है। एक शोधन दूसरा शमन। उनमे जो दोषों को बाहर निकाल दे उसको शोधन कहते हैं जैसे-निरूहणकर्म, वमन, मलसूत्र का विरेचन, शिरोविरेचन, रक्त मोक्षण और पसीना देना। शमन समीकरण को कहते हैं जो द्रव्य अथवा क्रिया न तो बढे हुवे दोषों को निकाले और न उदीर्ण करे किन्तु अपने प्रमाण से हीन या अधिक हुवे दोषों को अपने अपने प्रमाण मे स्थित करे उस को शमन कहते हैं ॥

ठीक लंघन से इन्द्रियों की निर्मलता, शरीर में हलकापन, अन्नादि पर रुचि, मलमूत्रादि का ठीक विसर्जन, क्षुधा प्यास का लगना चित्त में उत्साह ये लक्षण होते हैं। ऐसे ही ठीक बृंहण से बलवृद्धि, शरीर की पुष्टि और क्षीणता से उत्पन्न हुवे रोगों की शान्ति होती है ॥

इसलिए न अति बृंहण करे न अति कर्षण करे किन्तु साम्यावस्था में स्थापन करे यह इस सूत्र का भाव है ॥११॥

सू०—प्रावृट् शरद वसन्तेषु चोपहरेत् ॥ १२ ॥

प्र. टी.—ग्रैष्मिकं दोषचयं प्रावृषि स्नेहनपाचन स्निग्धविरेचनानुवासनै श्चापहरेत् । वार्षिकं दोषचयं शरदि पाचनादिभिःकोष्ठे समानीय रेचनादिभिर्निर्हरेत् । एवं हैमन्तिकं बसन्ते पाचनवमनादिभि शिरोविरेचनेनच निर्हरेत् । अत्रदोषनिर्हरणात् प्राक् दोषं पाचयित्वा कोष्ठे समानीय निष्कासयेत् । कोष्ठस्तु वातेनक्रूरः, पित्तेन मृदु,

कफेन च मध्यः, तैःसमैश्चापिमध्य एवभवति इति। अत्रदोष हरणविषयेचरक "हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते प्रवाहयन् ग्रैष्मिक मभ्रकाले ॥ घनात्यये वार्षिक माशुसम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान्नजातु"। ऋतुजानितसञ्चयोद्भव रोगोत्पत्तेः प्रागेव दोषान्निर्हरेदितिभावः ॥ १२ ॥

भा. टी.-ग्रीष्म ऋतु में जो दोष सञ्चय हुवा हो उसको प्रावृट ऋतु में रोग उत्पन्न होने से प्रथम ही स्नेहन क्रिया और पाचन क्रिया करके स्निग्ध विरेचन और अनुवासन वास्ति द्वारा हरण करे। वर्षा काल में हुवे पित्त के सञ्चय को प्रकोप होने से प्रथम ही शरद ऋतु में पाचन कर जब दोष कोष्ठ में आजाय तो विरेचन द्वारा निकाल देवे। ऐसे ही हेमन्त में हुवे कफ के सञ्चय को वसन्त ऋतु में पाचन वमन शिरो विरेचनादि से हरण करे। यहां दोष हरण के लिए वमन विरेचन से पहले दोष को पचा कर कोष्ठ में ले आना चाहिये, फिर वमन विरेचन द्वारा निकाले। कोष्ठ वायु से क्रुर होता है (इसको स्नेहन पाचन द्वारा मृदु कर लेना चाहिये फिर रेचन करे)। कफ से मध्य कोष्ठ और पित्त से मृदु कोष्ठ होता है दोषों की साम्यावस्था से भी

मध्य कोष्ठ होता है । इस विषय में चरक कहते हैं-- हेमन्त में इकट्ठे हुवे दोष को वसन्त ऋतु में, ग्रीष्म में संचित हुवे को प्रावृट काल में, और वर्षा काल के संचित को शरद ऋतु में, हरण कर देने से ऋतु जनित रोग नहीं होते । इस लिए ऋतु जनित दोष संचय से उत्पन्न होने वाले रोगों के उत्पन्न होने से पहले ही दोषों का हरण कर देना चाहिये ॥ १२ ॥

सू०–चय एवाऽविरोधयन्वा ॥ १३॥

प्र. टी.--अथवा चये चयकाले एवोपचीयमानं पथ्याऽऽहारादिभिरुपक्रमेत । यथाग्रीष्मे कट्वम्ललवणानि वर्जयेत् लघुःस्निग्धमधुराणि द्रव्याणि शीतं द्रवञ्च सेवेत । यथा प्रावृषि वात प्रकोपो न भवेदिति ॥ वर्षासु जीर्ण धान्यमधुरलघुस्निग्धानिच द्रव्याणि श्रृतशीतजलञ्चसेवेत यथा पित्त सञ्चयो न भवेद्वातप्रकोपोऽपिनभवेत् । एवं हेमन्ते ऽप्यविरोधयन् सुंठ्यादि संयुक्तानि द्रव्याण्युपसेवेत येनच प्रकोप एव न भवेदिति ॥ १३ ॥

भा. टी.–अथवा चयकाल में ही संचय होते हुवे दोष को पथ्याहार विहार से शमन करे । जैसे

ग्रीष्म ऋतु में कटु अम्ल और लवण रस न खावे किन्तु लघु, स्निग्ध, और मधुर द्रव्यों का सेवन करे तथा ठंडे शर्बत और दूध आदि का सेवन करे जिससे प्रावृट् काल में वायु का प्रकोप न होने पावे। वर्षा ऋतु में हलके पुराने अन्न, मधुर स्निग्ध हलके आहार उबाल कर ठंडा किया जल, सेवन करे जिस से पित्त का संचय और प्रकोप न हो सके। ऐसे ही हेमन्त में सोंठ आदि से युक्त द्रव्य सेवन करे जिस से वसन्त में कफ का प्रकोप न होवे। यह सब क्रियाएं अर्थात् दोष शमन इस प्रकार करे जिससे एक को शमन करने से दूसरा दोष न विकृत हो जाय और जिस प्रकार शमन विधि से दोषों का प्रकोप भी न हो सके ॥ १३ ॥

सू०—संसर्गसान्निपातेषु च बलवत्तरम् ॥ १४ ॥

प्र. टी.—संसर्गे द्विदोषचये सन्निपाते त्रिदोष चये च, मिश्रितोपक्रमः सम्मिलितचिकित्सया उपक्रमेत । अथवा बलवत्तरं दोषं पूर्वं जयेत् । यथा वातकफ संसर्गे वात-

कफोपक्रमः । वातपित्त ससंर्गे वातपित्तोपक्रमः । पित्तकफसंसर्गे पित्तकफोपक्रमः । एवं वातपित्ते ग्रैष्मिकोविधिःप्रयोज्यः । वातकफे वसन्तोक्तः । कफपित्ते शारदीयः । एवं संसर्गे सन्निपात्ते च, वा बलवत्तरं पूर्वमुपक्रमेत द्वितीयाऽध्यायोक्त सन्निपात्त चिकित्सा संकेतेन वा ॥१४॥

भा. टी.–जहां दो दोषों का एक काल में संचय प्रतीत हो अथवा तीनों दोषों का सञ्चय प्रतीत हो तो मिले हुवे आहार विहारों से शमन करे, अथवा जो अधिक बलवान् दोष हो पहले उसको जीते। जैसे वातकफ संसर्ग में वातकफ को शमन करने वाले आहार विहारौषधयोग से शमन करे। वातपित्त संयोग में वातपित्त नाशक और कफपित्त के संसर्ग में कफपित्त नाशक क्रिया करे। वातपित्ताधिक्य में ग्रीष्म ऋतु में होने वाली ऋतुचर्या या उपशम विधि से उपक्रम करे। वातकफ में वसन्त के समान और कफपित्त में शरद ऋतु के समान विधि से चिकित्सा करे इसी प्रकार संसर्ग और सन्निपात में जो दोष अधिक बलवान् हों उसको पहले जीते अथवा दूसरे अध्याय में जो सन्निपात की चिकित्सा का संकेत कह आये है उस से काम लेवे ॥१४॥

सू०–तत्रस्थ ञ्चागन्तुम् ॥ १५॥

प्र. टी.–आगन्तुं दोषं तत्रस्थमेवोपक्रमेत, यथा चागन्तुको विकारः शरीरे न प्रसरेत्तथा तं पूर्वं तत्रस्थमेवजयेत्। यतःस्थानिको दोष आगन्तुकदोषेणाभिभूयते बलवत्तरत्वात्, स्थाानिकदोषस्य विकारकरणे असमर्थत्वात्पूर्वं आगन्तु मेवशमयेदिति च शब्दार्थः ॥ १५ ॥

भा. टी.–आगन्तुक दोष को जिस स्थान में वह पतन हुवा हो प्रथम ही उसी स्थान में जीत ले, जिस से वह आगन्तुक विकार सम्पूर्ण शरीर में फैलने न पावे। क्योंकि स्थानिक दोष आगन्तुक दोष से दब जाता है आगन्तुक दोष बलवान् होने के कारण स्थानिक अर्थात् निज दोष कुछ कर ही नहीं सकता इस लिये पहले आगन्तुक को ही शमन करे ॥ १५ ॥

सू०–हितञ्च सेवेत ॥१६॥

प्र. टी.–सदैव सर्वंहितं सेवेत। हित सेवनाद्धिदीर्घायुष्यं, सुखं, यशश्च प्राप्नोति पुरुषः। यथाह चरकः "नरोहिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्व सक्तः।

दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः। मतिर्वचःकर्म सुखानुबन्धि सत्वं विधेयं विशदाचबुद्धि र्ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुपतन्तिरोगाः" जितेन्द्रियं नानुपत्तन्ति रोगा स्तत्कालयुक्तं यदि नास्तिदैवम् ॥१६॥

भा. टी.-सदैव सब प्रकार हित सेवन करे क्यों कि हित सेवन से ही मनुष्य दीर्घायु, सुख और यश को प्राप्त होता है। जैसे चरकने कहा है "जो मनुष्य हितकारी आहार विहार का सेवन करता है, बुद्धिपूर्वक देख विचार कर काम करता है, विषयों में प्रवृत्त नहीं है, समय पर पात्र को दान देता है, वैर विरोध न रखकर सब में समभाव रखता है, सत्य ही बोलता है, क्षमा वाला स्वभाव हो, प्रमाणिक भद्रपुरुषों की सेवा तथा आज्ञा पालन करने वाला सदा निरोग रहता है। जिस पुरुष के मति, वाणी, और कर्म यह सब हित भावों से संलग्न हों, मन अपने वस हो, बिशुद्ध बुद्धि हो तथा ज्ञान, तपस्या और योग में चित्त हो ऐसे पुरुष को रोग कभी नहीं होते।" यदि कोई पूर्व जन्म का कर्म विघातक न हो तो जितेन्द्रिय पुरुष को रोग नहीं हो सकते ॥ १६ ॥

सू०-दैवपुरुषकारौ परस्परं जयतः ॥ १७ ॥

प्र. टी.—क्वचित्कृतेऽपि हित सेवनेऽनिष्टं दृश्यते, क्वचिच्चाऽहित सेवनादपीष्टंभवत्यत्रकिं वीजमित्याशंक्य विविच्यते। दैव पुरुषकारौ परस्परञ्जयतः न्यूनाधिक्यात् । दुर्बलं दैवं बलवान् पुरुषकारो जयति, एवं दुर्बलः पुरुषकारः बलवता दैवेनोपहन्यते । यदात्मकृतं पौर्वदैहिकं कर्म तद्दैवमित्याचक्ष्यते । यच्चेहक्रियते कर्म स हि पुरुषकारः । अत्राऽऽत्रेयः "कालस्य परिणामेन जरामृत्युनिमित्तजाः । रोगाः स्वाभाविका दृष्टाः स्वभावो निष्प्रतिक्रियः । निर्दिष्टं दैवशब्देन कर्म यत्पौर्व दैहिकम् । हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते । नहि कर्म महत्किञ्चित्फलं यस्य न भुज्यते । क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः प्रशमंयान्तितत्क्षणात् " ॥ १७ ॥

श्रीपाटियाला राज्यान्तर्गत टकसाल ग्राम निवासी रामप्रसाद शर्म्म राजवैद्य प्रणीतायुर्वेद सूत्रे प्रसादिनी टीकायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ समाप्तमिदं प्रथम खण्डम् ॥ १ ॥

ग्रहाऽब्धिनवचन्द्रेऽब्दे, आषाढ़े पूर्णिमातिथौ ॥
आयुर्वेदिक सूत्राणां पूरितं खण्डमादिमम् ॥ १ ॥

मया रामप्रसादेन बालकानां हितेच्छया ॥
पाठकानञ्चोपहारः खण्डमेतत्समर्प्यते ॥ २ ॥

भा. टी.—कहीं हित सेवन करते हुवे भी रोग उत्पन्न होते देखे जाते हैं और कहीं अहित सेवन करने पर भी सुखी प्रतीत होते हैं इस में क्या कारण है यह शंका कर विवेचना करते हैं। दैव और पुरुषकार न्यूनाऽधिक होने पर एक दूसरे को जीत लेता है। दुर्बल दैव को बलवान् पुरुषार्थ जीत लेता है और दुर्बल पुरुषार्थ बलवान् दैव द्वारा हनन हो जाता है। जो पूर्व जन्म कृत कर्म है उसको दैव कहते हैं और जो इस लोक में इस देह से कर्म किया जाता है उसको पुरुषार्थ कहते है। इसी विषय में भगवान् आत्रेय कहते हैं कि काल के परिणाम से जो बुढ़ापे और मृत्यु के निमित्तभूत जो रोग होते हैं उनको स्वाभाविक रोग कहते हैं यह बुढ़ापा आदि निष्प्रतिकार है अर्थात् इन का होना तो एक दिन अवश्यम्भावी है। जो पौर्व दैहिक कर्म है वही दैव, प्रारब्ध, शब्द रोग उत्पन्न होने में कारण होता है। जगत् में कोई भी कर्म ऐसा नहीं जिसका कुछ फल न भोगा जाता हो जो रोग कर्म जनित हैं वे सब क्रिया द्वारा

हनन किये जाने पर शीघ्र शान्त हो जाते हैं ॥१७॥

श्री पटियाला राज्यान्तर्गत टकसाल निवासी वैद्य पंचानन रामप्रसाद शर्म्मा राजवैद्य प्रणीतायुर्वेद सूत्रे प्रसादिनी भाषा टीकायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

पटियाला महाराज के आश्रित रामप्रसाद ॥
निज सूत्रन अरु तिलक को करि भाषा अनुवाद ॥१॥
प्रथम खण्ड यह भेट है पाठक जन के हेत ॥
मध्यम भी पुनि भेटिहों उत्तर खण्ड समेत ॥ २ ॥

पं० रामप्रसाद शर्म्मा
राजवैद्य पटियाला

Ramprasad

पुस्तक मिलने का ठिकाना—

पं० रामप्रसाद शर्म्मा राजवैद्य,
पटियाला ।



